श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ६
अंक : ४

निगमामृत

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.१६.१७)

१.

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

माखनमें स्थित सारभाग-से परम सूक्ष्म जो अतिशय सार,
एकमात्र सब ओर व्याप्त जो घेरे हुए सकल संसार ।
सब भूतोंमें छिपे हुए हैं शिव-कल्याण गुणोंसे युक्त,
जान उन्हीं प्रभुको होता नर सब भवके बन्धनसे मुक्त ॥

२.

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ये ही देव विश्वकर्मा हैं परमात्मा सबके स्वामी,
सब मनुजोंके सदा हृदयमें बसे हुए अन्तर्यामी ।
हृदय, बुद्धि, मनसे चिन्तन हो तब इनका हो साक्षात्कार,
इस रहस्यको जान गये जो जन्म-मृत्युसे होते पार ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश
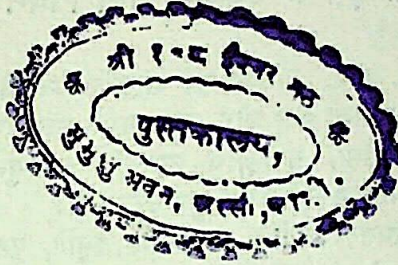
धर्म, अध्यात्म, साहित्य
एवं संस्कृति-प्रधान
मासिक पत्र

प्रवर्तक
पुण्यश्लोक जुगलकिशोर बिरला

वर्ष : ९ अङ्क : ४
नवम्बर, १९७३
श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८

वार्षिक : ७ रु०
आजीवन : १५१ रु०

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा
दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

*

उद्देश्य : धर्म अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश'का शुभ उद्देश्य है।

* नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छांट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' श्रीकृष्ण-सन्देश' श्रीकृष्ण जन्म-स्थान-सेवासंघ मथुराके पते पर भेजें।

* 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चन्देमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनि-आर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पो० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

* विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :

व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

मथुरा

अनुक्रम

मासिक व्रत-पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०३० मार्गशीर्ष शुक्ल ४र्थी बुधवार २८-११-'७३ से पौष कृष्ण अमावास्या सोमवार २४-१२-७३ तक]

नवम्बर : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
२८	बुधवार	वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत।
२९	गुरुवार	श्रीरामविवाह-महोत्सव।

दिसम्बर : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१	शनिवार	चम्पाषष्ठी व्रत।
६	गुरुवार	मोक्षदा एकादशीव्रत : सबके लिए; गीता-जयन्ती।
७	शुक्रवार	प्रदोष १२ व्रत।
९	रविवार	व्रतके लिए पूर्णिमा, दत्तात्रेय-जयन्ती।
१०	सोमवार	स्नान-दानकी पूर्णिमा।
१३	गुरुवार	संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत।
१५	शनिवार	धनु-संक्रान्ति (खरमासारम्भ)।
१९	बुधवार	पार्श्वनाथ-जयन्ती।
२०	गुरुवार	सफला एकादशी व्रत : सबके लिए।
२१	शुक्रवार	प्रदोष १२ व्रत।
२२	शनिवार	मासशिवरात्रिव्रत।
२४	सोमवार	सोमवती अमावास्या।
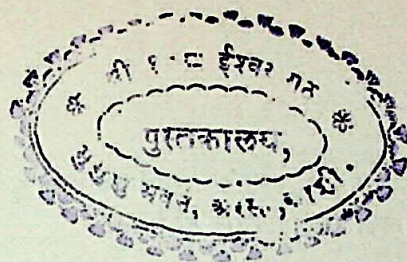
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान :

प्रत्यक्ष-दर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

❀

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमिमें आकर असीम शान्ति प्राप्त हुई।

कृष्णकुमार प्रसाद

प्रोडक्शन मैनेजर, उड़ीसा सीमेण्ट लिमिटेड,

राजगंगपुर।

आज मुझे इस पुण्यस्थानपर दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस स्थानको देखनेसे स्वतः इस बातकी अनुभूति होती है कि यह श्रीकृष्णका जन्म-स्थान रहा होगा। इस पुण्य जन्म-स्थानपर जो विशाल भवनका निर्माण होने जा रहा है, उसके लिए ईश्वरसे यही प्रार्थना है कि कार्य सुचार रूपसे चलता रहे तथा निर्विघ्नरूपसे शीघ्र पूर्ण हो। मेरी शुभ-कामनाएँ स्वीकार हों।

विश्वनाथप्रसाद मेहरोत्रा

डायरेक्टर : हिन्दुस्तान इण्डस्ट्रीज एण्ड मशीन प्रा० लि०,

वाराणसी।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पावन दर्शनका अवसर यों एकाधिकबार प्राप्त हो चुका है। इस बार इसके समग्र पूर्वेतिहासके सन्दर्भमें श्री पं० गिरधारीलाल चतुर्वेदीजीने जब मुझे परिचित कराया, तो स्पष्ट हो गया कि आज उसके उद्धारार्थ तीव्रताके साथ किया जा रहा यह प्रयत्न प्रत्येक भारतीयके लिए निःसन्देह गर्वका विषय है। अपनी लेखनीसे हम भारतीय-संस्कृतिके प्रति निष्ठा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिसे साग्रह विनम्र अनुरोध करेंगे कि जन्मस्थान-पुनरुद्धारकी समग्र योजनाको शीघ्रसे-शीघ्र मूर्तरूपमें परिणत करानेमें अपनी हर सम्भव शक्तिका दाय प्रदान करें। कारण विश्वमें सुख-शान्ति एवं सामंजस्यका व्यावहारिक उपदेश मात्र भारतीय-संस्कृति ही देती है और उसका उपाय भी वही बताती है। इस भारतीय संस्कृतिका षोडशकलात्मक पूर्णरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं और यह

उन्हींका जन्मस्थान है। स्वतन्त्र भारतमें उसे अपने पूर्ण विकसित रूपसे विराजित करना प्रत्येक भारतीयका राष्ट्रीय कर्तव्य ही है।

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर
एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य,
साहित्य-विभागाध्यक्ष : स्याद्वाद-महाविद्यालय,
सम्पादक 'श्रीकृष्ण-सन्देश'
वाराणसी।

I am deeply impressed not only by the most elaborate and beautiful temple and guest house being erected on the holy site of Sri Krishna birth place, but also to the intense peace of the atmosphere, bearing witness to the Lord's eternal presence here

John Moffitt
Rocklands, Gord on Sville
VA, 22. 9. 42. U. S, A.

Krishna Behari Bajpeyi
T. C. Guiar Hall
Delhi University, Delhi.

Today it has been my proud privilege to visit the birth place of Lord Krishna by His grace for the second time with a party of seven members. We have been impressed by the work carried on here and we pray that Lord Krishna fulfill the ambition of those who have undertaken to build the Temple. May Lord Krishna bless them.

Ramharak
Mrs. K. Devnarain
Mrs. A. Chetty
Mrs. P. Chetty
Mrs. Bachoo.

S. Dwarika
P. O. Box 81, Shakaskraal
Natal
South Africa.

वर्ष : ९] मथुरा : नवम्बर, १९७३ [अङ्क : ४

योगारूढ और युक्त की स्थिति

अमुक कर्मका फल मुझे अवश्य मिले और अमुक रूपमें ही मिले, ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए। कर्मफलकी आशा-तृष्णा छोड़कर ही कर्तव्यका पालन करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है। केवल अग्निहोत्र छोड़ देने और निष्क्रिय होकर बैठे रहनेसे न कोई संन्यासी होता है और न योगी। संन्यास और योग शब्द भावदृष्टिसे एक ही अभिप्रायके पोषक हैं। जिसको लोग संन्यास कहते हैं, उसीको योग भी समझो। संन्यास कर्मत्याग नहीं, संकल्प-त्यागका नाम है। जिसने समस्त संकल्पोंको—कर्मफलप्राप्ति-विषयक भावना या तृष्णाको त्याग दिया है, वही संन्यासीके सम्मान्य पदपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकारी है। योगी या कर्मयोगी भी वही है, जिसने फलासंगको त्याग दिया है। फलविषयक संकल्पका त्याग किये बिना कोई योगी भी नहीं हो सकता। योग कहते हैं समत्वबुद्धिको। जो उसपर आरूढ होनेकी इच्छा रखता हो, उस मननशील मनुष्यके लिए योगकी प्राप्तिमें कर्म—निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्मका अनुष्ठान ही कारण है। कर्मफलकी आसक्तिके त्यागपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किये बिना कोई समत्वबुद्धिरूप योगपर आरूढ नहीं हो सकता। दुःख हो, सुख हो, लाभ हो, हानि हो, जय हो या पराजय हो—सभी अवस्थाओंमें समभाव रहें; किसी भी दशामें मन

हर्ष-शोकरूप विकारोंके वशीभूत न हो—यही समता या समत्वबुद्धि है। यह समता निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानसे ही प्राप्त होती है। जिसे यह प्राप्त हो जाती है उसीको 'योगारूढ' कहते हैं। जिसे योगारूढकी स्थिति प्राप्त हो गयी है, उसके लिए कल्याणकी प्राप्तिमें 'शम'को कारण बताया गया है। संपूर्ण संकल्पोंका अभाव हो जाना ही 'शम' कहलाता है। जबतक मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं; तबतक पुरुष अशान्त रहता है। फिर **अशान्तस्य कुतः सुखम्** इस उक्तिके अनुसार उसके लिए सुख-प्राप्ति या कल्याणकी उपलब्धि असंभव है। अतः शम अर्थात् समस्त संकल्पोंका अभाव परम आवश्यक है। जो योगारूढ होकर 'शम'-प्राप्त है, वही परमकल्याणका भागी होता है।

पूछा जा सकता है कि 'योगारूढ'की पहचान क्या है? किस अवस्थामें साधन-सम्पन्न पुरुषको 'योगारूढ'की पदवी प्राप्त होती है? इस प्रश्नके उत्तरमें यह जान लेना चाहिए कि 'जब इन्द्रियोंके विषयों अथवा भोगोंमें आसक्ति न रह जाय तथा कर्मविषयक आसक्ति भी दूर हो गयी हो, उस अवस्थामें सम्पूर्ण संकल्पोंके त्यागी पुरुषको 'योगारूढ' कहते हैं। यह योगारूढावस्था ही कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु है। इसीसे आत्मोद्धार होता है। प्रत्येक मनुष्यको आत्मोद्धारके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। सारे जगत्के प्राणी संसार-सागरमें डूबे हुए हैं, भवपाशमें बँधे हुए हैं। बुद्धिमान् मनुष्य सावधान हो स्वयं अपने ही द्वारा अपने आपका उद्धार करे। संसार-सागरसे पार जाने या भवपाशसे मुक्त होनेके लिए सचेष्ट रहे। वह कदापि अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि जीवात्मा स्वयं ही अपना बन्धु या मित्र है तथा वह स्वयं ही अपना शत्रु है। उसके आत्म-कल्याणके साधनमें दूसरा कोई मित्र नहीं और न उसकी अधोगतिमें दूसरा कोई शत्रु ही है। जिसने अपने मनको जीतकर वशमें कर लिया और जिसका अपने शरीरपर भी नियन्त्रण है, वही जीवात्मा स्वयं अपना मित्र है और जिसने मन और शरीरको नियन्त्रित नहीं कर रखा, वही अपने साथ शत्रुतापूर्ण बर्ताव करता है।

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमानमें भी जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ पूर्णतः शान्त हैं, निर्विकार हैं; ऐसे जीवात्मा पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा नित्य विराजमान है। उसके बोधमें परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो सर्वथा निर्विकार और जितेन्द्रिय है; जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझनेवाला है, वही योगी युक्त या परमात्माको प्राप्त कहा जाता है। जो सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषपात्र तथा बन्धुजनोंमें भी समभाव रखनेवाला है, किसीके प्रति राग और द्वेष नहीं करता, वह समबुद्धि योगी सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको भी जीत लिया, जो वासना और संग्रह-परिग्रहसे रहित है; ऐसा योगी पुरुष अकेला एकान्तस्थानमें बैठकर निरन्तर आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाये।

अंश और अंशी

[१]

तुमसे प्रकट हुआ पालित तुम्हींसे विश्व
फिर तुममें ही लीन होता—यह क्रम है,
तो भी तुम्हें जानता न जगत्, अनूठी बात!
झूठी कल्पनामें रहा जीवन भरम है।
सच सपना है, अपना जो है पराया हुआ
रज्जुरूप आप ही में साँपका वहम है,
गोदमें पयोनिधिकी ऊर्मि कैसे भूली फिरे
रवि छविमान् कैसे फैल गया तम है॥

[२]

नित्य पूर्ण चन्द्र! छूटी तुमसे किरण मैं हूँ
पाती आयी सतत तुम्हींसे उजियारी मैं,
तुमसे मिलनका प्रयास असफल हुआ
राधाकान्त! क्या करूँ नितान्त थकी-हारी मैं।
रोम-रोम व्योम-ब्रह्म-अंड तुम ढोते सदा
कणिका तुम्हारे लिए होऊँगी न भारी मैं,
भूली-भटकी हूँ शीघ्र उरसे लगा लो मुझे
मेरे महासिन्धु लोल-लहर तुम्हारी मैं॥

—'राम'

भक्ति और भगवत्तत्त्वका वर्णन :

गीताका सातवाँ अध्याय

पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

❀

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥

—श्री मधुसूदन सरस्वती

जिनकी भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिलती, सभी प्रकारके योगियोंके लिए जो सेवनीय हैं, परमानन्दघन उन श्री नन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ।

गीताके सातवें अध्यायकी अपनी टीकाके प्रारम्भमें वेदान्तियोंके समाजमें सुप्रसिद्ध एवं विशेष प्रतिष्ठाप्राप्त, अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्त-कल्पलतिका जैसे ग्रन्थरत्नों के रचयिता स्वामी श्री मधुसूदन सरस्वतीजी ने यह मंगलाचरण किया है ।

श्री मधुसूदन सरस्वतीजी और प्रायः सभी वैष्णवाचार्य गीताके इस सातवें अध्यायको दूसरे काण्डका प्रारम्भ मानते हैं । उनकी मान्यता है कि 'गीताके पहले छः अध्यायोंमें प्रधानतया कर्मका वर्णन है, दूसरे छः अध्यायों (७ से १२ तक) में उपासनाका और अन्तिम छः अध्यायों (१३ से १८ तक) में प्रधानतया ज्ञानका वर्णन है ।'

भगवत्पाद श्री शंकराचार्य गीतामें वस्तुप्रधान प्रतिपादन स्वीकार करते हैं, साधनप्रधान नहीं । अतएव उनके भाष्यमें इस तरह गीताके तीन काण्डोंमें विभाजनका कोई संकेत नहीं है ।

कई लोग कहते हैं : 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यको लेकर गीताके पहले ६ अध्यायोंमें 'त्वम्' पदार्थकी प्रधानतासे प्रतिपादन है । दूसरे ६ अध्यायों (७ से १२ तक) में 'तत्' पदार्थकी प्रधानतासे तो तीसरे ६ अध्यायों (१३ से १८ तक) में दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन है ।'

कुछ लोग 'तत्त्वमसि'के स्थानपर 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य लेकर पहले छः

अध्यायोंमें 'अहं'-पदार्थका, दूसरे छः अध्यायोंमें 'ब्रह्म' पदार्थका और अन्तिम छः अध्यायोंमें 'अस्मि'-पदार्थ—दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन बतलाते हैं।

कोई-कोई यह भी अन्तर बतलाते हैं कि 'द्वितीय अध्यायमें वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' साधनकी एक परिपक्वावस्था है, तो दूसरी परिपक्वावस्था है बारहवें अध्यायमें वर्णित 'भक्त'। किन्तु इनमें स्थितप्रज्ञ प्रथमावस्था है, तो भक्त द्वितीयावस्था। चौदहवें अध्यायमें गुणातीतके रूपमें जिसका वर्णन है, वह सिद्धावस्थाका तृतीय रूप है।'

'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थमें श्री मंडनमिश्रने सिद्ध किया है कि स्थितप्रज्ञ साधक ही है, सिद्ध नहीं। क्योंकि वह **आत्मन्येवात्मना तुष्टः** अर्थात् अन्तःकरणमें रहकर ही सन्तुष्ट होता है। भक्तके वर्णनमें कहा गया है : **सन्तुष्टो येन केनचित्**। स्थितप्रज्ञ अन्तर्मुख होकर ही सन्तुष्ट होता है; लेकिन भक्त अन्तर्मुख रहे या बहिर्मुख, सर्वत्र सन्तुष्ट है। गुणातीतका वर्णन है :

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

अर्थात् वह संतोषसे भी निरपेक्ष रहता है। यह सिद्धावस्था है।

जो भगवान्‌को जानकर उनसे प्रेम करते हैं, उनके विषयमें भगवान्‌को कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि वे जानते हैं कि 'जो एकबार मुझे देख या जान लेगा, वह मुझसे प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता' :

उमा राम सुभाउ जिन जाना।
तिन्हहिं भजन तजि भाव न आना॥

जिसने कभी देखा-जाना नहीं, जो केवल सुन-सुनकर श्रद्धा करता है और श्रद्धाके अधीन अपना सर्वस्व लुटा देता है, उसका प्रेम देखकर स्वयं भगवान् भी उसके ऋणी हो जाते हैं। उन्हें भी बड़ा आश्चर्य होता है कि 'हमें यह कितना श्रेष्ठ प्रेमी प्राप्त हुआ, जो बिना देखे-जाने, बिना मिले हमपर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है।' इसीलिए गीताके छठें अध्यायके अन्तमें (६.४७) भगवान्‌ने कहा है :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सब योगियोंमें श्रेष्ठ योगी वह है, जो **श्रद्धावान् सन् मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते**। यहाँ श्रद्धान इस बातका सूचक है कि अभी उसने देखा या जाना नहीं है; क्योंकि साक्षात्-अपरोक्ष होनेके बाद मानने या श्रद्धा करनेकी बात नहीं रहती। जानी हुई बात हो जाती है।

अब प्रश्न होगा कि वे भगवान् कैसे मिलें ? उनमें अपना मन कैसे लगाया जाय ? 'मद्गत' का अर्थ क्या है ? अपनी अन्तरात्माको संलग्न करनेके मानी क्या है ? भजन कैसे करें और किसका करें ? भजनमें बाधक क्या हैं ? इन्हीं सब प्रश्नोंके उत्तरके लिए गीताका सातवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं : छठे अध्यायमें जिस योगका वर्णन किया गया, उससे आत्मज्ञान होता है; क्योंकि वहाँ कहा गया है :

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

—६.१०

अर्थात् 'योगी एकान्तमें बैठे। अपना सहायक भी कोई न रखे। चित्तवृत्तिको प्रतिलोम परिणामसे युक्त करे। युक्त हार-विहार आदिवाला रहे। चित्तवृत्तियाँ नेत्र, कर्ण आदि मार्गोंसे संसारमें जाती हैं, उन्हें वहाँसे लौटा ले।'

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

अपने मनको एकाग्र कर ले और अन्तमें—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

अपने मनको आत्मामें स्थित कर ले। किसी भी दूसरे विषयका चिन्ता न करे।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

सर्वत्र परमात्माका और परमात्मामें सबका दर्शन करे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखे। भजत्येकत्वमास्थितः—इस प्रकार अपने परिपूर्ण रूपका अनुभव प्राप्त करे।

इस तरह छठे अध्यायमें उस योगीका वर्णन किया गया है, जिसे आत्म-साक्षात्कार होता हे।

अब कहते हैं : आत्मसाक्षात्कारके बाद भगवान्की भक्ति करें; तब भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है। पहले आत्मज्ञान, फिर भक्ति और तब भगवत्तत्त्वज्ञान—ये तीन वस्तुएँ हैं। छठे अध्यायमें योगाभ्यास और उससे आत्मतत्त्वके ज्ञानका वर्णन किया गया। अब सातवें अध्यायमें भक्ति एवं भगवत्तत्त्वके ज्ञानका वर्णन करते हैं। शास्त्रीय भाषामें छठे अध्यायमें 'त्वं'-पदार्थप्रधान वर्णनका उपसंहार करके सातवें अध्यायमें 'तत्'-पदार्थप्रधान वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

वैष्णवाचार्य कहते हैं : 'वस्तुतः माहात्म्यज्ञानके बिना भक्ति नहीं होती। जब हम किसीकी महिमा जानते हैं, तभी उसकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है :

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति ख्यातस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

अपने निबन्ध-ग्रन्थोंमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इस प्रसंगको इस प्रकार लिया है : 'पहले होना चाहिए भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान; अर्थात् यह ज्ञान कि भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु और वात्सल्य रखनेवाले हैं। अचिन्त्य-अनन्त कल्याण-गुणगणैक-धाम प्रभुकी महिमा जानकर भी जो भजन न करे, वह तो निरा मूर्ख है।

'सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहः'—फिर सबसे अधिक और दृढतर स्नेह भगवान्‌से हो। यह नहीं कि 'किसीसे स्नेह मत करो। बालक, मित्र, पति या पत्नी सभीसे स्नेह हो; पर सबसे अधिक स्नेह भगवान्‌से हो। अपने हृदयकी यह तैयारी रखें कि 'भगवान्‌का भजन नहीं छोड़ेंगे, भले ही सारी दुनिया छूट जाय।'

'सुदृढ़ः' यानी स्नेहमें दृढ़ता हो। जरा-सी कठिनाई पड़ी और हठ गये, ऐसा न हो। इसी प्रेमका नाम 'भक्ति' है और यही मुक्ति देनेवाली है।

'भक्ति'का अर्थ है : भाग, विभाग। एक ओर संसार और दूसरी ओर भगवान् रहें, तो हमने अपने नेत्र भगवान्‌से लगा दिये और संसारसे हटा लिये : भागो भक्तिः। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं : 'भज्' धातुका अर्थ है सेवा और 'ति' प्रत्ययका अर्थ है स्नेह। इस तरह स्नेहपूर्वक भगवान्‌की सेवाका नाम भक्ति है।' सातवें अध्यायमें इसी भक्ति एवं भगवत्तत्त्वका वर्णन किया गया है।

•

श्रीकृष्ण-कथा : ३

श्री बलराम

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

❋

> मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
> त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥
>
> —भागवत १०.२.४०

देवासुर-संग्राममें देवताओंद्वारा पराजित दैत्य पृथ्वीपर अवतीर्ण हो गये। नरेशोंके, शूरोंके गृहोंमें जन्म लिया उन्होंने। स्वभावतः वे यज्ञ, हवन, तर्पण, वेदपाठके विरोधी थे। आहुतिसे देवताओंका और श्राद्धसे पितरोंका पोषण होता है। यदि मनुष्य यजन एवं श्राद्ध छोड़ दे तो देवता स्वतः दुर्लभ हो जायँगे। सम्मुख युद्धमें पराजित होकर दैत्योंने देवताओका आहार बन्द कर देना चाहा। पृथ्वी और उसपर भी मनुष्य ही तो निखिल लोकोंके पोषक हैं। दैत्योंने नृपवंशोंमें उत्पन्न होकर शासन-सूत्र सम्भाल लिया। प्रजा तो शासकका अनुगमन करती है।

भार—स्थूलशरीरके लिए स्थूलपदार्थका भार होता है; किन्तु सूक्ष्मके लिए तो सूक्ष्म ही भारी होगा। सत्त्वगुण धारक-पालक है और तमोगुण विनाशक। सत्त्व वायुके समान धारण करनेवाला और तमस् अन्धकार एवं मृत्युके समान नष्ट करनेवाला। हमारे इस स्थूलजगत्का धारण जो आधिदैविक शक्तियाँ करती हैं, उन सूक्ष्मशक्तियों—देवताओंके लिए स्थूलपदार्थोंका भार ही क्या? किन्तु जब जगत्में तमस् बढ़ जाता है, अधर्मका प्राबल्य होता है, वे दिव्यशक्तियाँ आकुल हो उठती हैं। उनके लिए अन्याय, अत्याचार, कदाचारके जो सूक्ष्म तामस भाव हैं, असह्य हो उठते हैं। भूमि, हमारी इस पृथ्वीकी अधिष्ठात्री भूमिदेवी जब ऐसे भारसे पीड़ित होती हैं, तो वे प्रजापति महेन्द्रके पास ही तो जा सकती हैं! देवराजका ही तो कर्तव्य है कि वे समस्त देवताओंके कार्योंका सामञ्जस्य बनाये रखें।

द्वापरका अन्त! जगत्में, विशेषतः धर्मभूमि भारतमें असुर-नरेशोंका प्राबल्य हो

गया। भूमिके लिए असह्य हो गया उन उद्धतोंका अत्याचार—भूकम्प, जलप्लावन, ज्वालामुखी, महामारी; लेकिन यह कुछ शक्य नहीं था। असुरोंकी शक्ति, उनका पराक्रम, उनकी बुद्धि और विद्या इन सबको परास्त कर चुकी थी। असुरोंने देवधानीको त्रस्त और आतङ्कित कर दिया था।

भूमिका कष्ट अकेला ही तो नहीं था, देवताओंके हविष्य भी बन्द होते जा रहे थे। देवराजके समीप कोई उपाय नहीं था। देव-शक्तिसे ये मर्त्यधराके असुर अधिक प्रबल हो चुके थे। महेन्द्रके पास एक ही उपाय था कि वे सृष्टिकर्ताकी शरण लें। भगवान् ब्रह्माने सुरोंको देखा, भूदेवीको देखा और उनके साथ देखा विनाशके अधिष्ठाता भगवान् शशाङ्कशेखरको। देवराज कैलाशसे भगवान् शंकरको साथ ले गये थे। इस सृष्टि-कालमें असुरोंका यह उच्छृङ्खल भाव उन महारुद्रको भी अभिप्रेत नहीं था। स्रष्टा क्या करें? वे तो सृष्टिके अधिष्ठाता हैं। निर्माण ही आता है उन्हें। नियमन-शासन भला वे क्या जानें? सबको लेकर वे क्षीरसागर-तटपर तो पहुँचनेवाले ही थे। वे पालन-कर्ता शेषशय्यापर आनन्दरूप अवस्थित होंगे। आर्तजन उनको छोड़कर आश्वासनके लिए भला किसे पुकारें?

भगवान् ब्रह्मा जानते थे कि वे सान्द्रनील लक्ष्मीनिवास प्रभु अन्वेषणसे प्राप्त नहीं होते। सृष्टिके आरम्भमें अपने कमलके नालछिद्रसे वे उन्हें पानेका युगोंतक विफल प्रयास कर चुके थे। उन्हें तो आतुर उत्कण्ठाकी कातर पुकारसे ही पाया जा सकता है। देवताओंने स्रष्टाके नेतृत्वमें प्रार्थना प्रारम्भ की और प्रार्थना करते-करते पितामह ध्यानस्थ हो गये। अन्तरके आलोकमय प्रान्तमें ही तो वे हृषिकेश निवास करते हैं!

'प्रभुका प्रसाद प्राप्त होगा! वे यदुवंश को कृतार्थ करेंगे! आप सब उनकी सेवाके लिए अपने अंशोंसे पृथ्वीपर जन्म ग्रहण करें!' अन्तरके आदेशको पितामहने सुना दिया। देवता सदासे असुरोंके अनुज हैं! तब पृथ्वीपर वे पीछे ही तो प्रकट होंगे? अवतार, अवतार तो होगा ही। जब मानव-प्रयास, नैसर्गिक उपद्रव और देवशक्तियाँ भी भूमिके हृदय भारतमें कदाचारका वेग रोक नहीं पातीं—जब मानव प्रकृतिपर, देवताओंपर भी विजय करके अपने गर्वमें मत्त हो जाता है, तभी तो अवतार होता है!

× × ×

'माता देवकीके गर्भमें मेरे अंश भगवान् अनन्त पहुंच चुके, आप उन्हें वसुदेवजीकी दूसरी पत्नीमें जो गोकुलमें, नन्दभवनमें हैं, आकर्षित कर दें!'—उन अनन्तशायीने योगमायाको आदेश दिया। द्वापरके युगावतार तो शेषावतार श्री बलरामजी ही हैं। इतना ही क्रम तो सदा चलता है। योगमायाने मस्तक झुकाकर आदेश स्वीकार कर लिया।

श्री वसुदेवजीकी अन्य पत्नियाँ कंसके नृशंस अत्याचारके भयसे ही वसुदेवजीके बन्दी होते ही मथुरा छोड़कर गुफाओंमें चली गयीं सम्बन्धियोंके साथ; किन्तु रोहिणी जी

को तो पतिका गृह किसी दशामें छोड़ना स्वीकार नहीं था। अन्ततः कंसने उन्हें कारागारमें जाकर पतिसेवाकी आज्ञा दे दी और देवकीके सप्तम गर्भके साथ जब उनमें भी गर्भके लक्षण व्यक्त हुए, वसुदेवजीने उन्हें गोकुलमें श्री नन्दरायके यहाँ रहनेकी आज्ञा दी। कहीं दुरात्मा कंस उनकी संतानको मार न दे। इच्छा न होनेपर भी पतिकी आज्ञा माननी पड़ी उन्हें।

'इतना ही नहीं!'—तब इस बार क्या कोई और विशेषता होगी? प्रभुने अब रहस्य-भरा संकेत किया—'इसके पश्चात् मैं आऊँगा माता देवकीकी गोदमें, और कुछ देरको तुम्हें भी नन्दपत्नी माता यशोदाकी बालिका बनना है!' अच्छा! यह सब क्यों? पर योगमायाको पूछनेकी आवश्यकता नहीं थी। इस बार उनके परमप्रभु पधार रहे हैं। उनकी लीलाको साङ्गता देनी है। ये शेषशायी प्रभु उसे साङ्गता देंगे और कुछ क्षणोंको ही सही, वे परात्पर लीलामयकी अनुजा बनेंगी! माता यशोदा—सचमुच उनकी पुत्री होनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया! योगमायाने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया।

× × ×

माता देवकी—कंसके क्रूर कारागारकी बन्दिनी, चिर-दुःखिनी आज निद्रामें किस आनन्द-लोकमें हैं? वे तो सदा स्वप्नमें भी चीत्कार करके चौंक पड़ा करती हैं। आज यह मन्दस्मित! वर्षों पश्चात् उनके अधरोंने स्वप्नमें यह स्मित पाया है। वे स्वप्न देख रही हैं: 'एक अनन्त विशाल उज्ज्वल-स्निग्ध प्रकाश और उसके मध्य मृणाल-गौर सहस्रशीर्षा भगवान् शेष। उनके प्रत्येक मस्तककी मणियोंसे निकलती महाज्योति और उनके कुण्डलाकार भोग पर चरण फैलाये, अर्धोत्थित नवजलधर-सुन्दर वे परम ज्योतिर्मय। उनका मन्दस्मित-शोभित मुखमण्डल, अरुणाभ विशाल लोचन, धनुषाकार पतला भ्रूमण्डल! माताकी दृष्टि ही और किसी अङ्गपर नहीं गयी—'कितना सुन्दर, कितना मोहक है यह मुख!' वे देखती रह गयीं उसे।

'अरे, यह किशोर वय और केश पक गये!'—स्वप्नमें भी माता चौंकीं। घुँघराली काली अलकोंमें एक, केवल एक उज्ज्वल केश चमक रहा था। सहसा उन भूमा पुरुषने हाथ मस्तककी ओर किया और केशको बिना देखे ही निकाल लिया अलकोंसे। एक काला केश उसके साथ और आ गया। उन्होंने काले केशको हाथमें रखा और श्वेतको बढ़ा दिया माताकी ओर। केश तो उड़ा आ रहा है, उड़ा आ रहा है और वह माताके मुखमें प्रविष्ट हो गया।' निद्रा टूट गयी। चौंककर उन्होंने देखा। यह क्या—उनके आराध्य भी इसी समय निद्रासे चौंके हैं। उन्होंने भी कुछ ऐसा ही स्वप्न देखा है।

दिन बीते, मास बीते और सेवकोंसे कंसने सुना—'देवकीको सप्तम संतान होनेवाली है।'

'सप्तम संतान !' कंसका भय बढ़ता ही जा रहा है। 'सप्तम ! अष्टम इसके पश्चात् ही तो आता है।' उसने सेवकोंको अधिक सावधान रहनेका आदेश दिया।

'देवकीका गर्भ नष्ट हो गया !'—सहसा कंस द्वारा नियुक्त धात्रीने उसे एक दिन सूचित किया। धात्रीको स्वयं आश्चर्य था। न तो कोई शरीरमें विकृति और न उदरमें—ऐसा कैसे हो गया ? चाहे जैसे हुआ हो, गर्भ था और उदरमें कुछ नहीं है तो दूसरा क्या अर्थ हो सकता है ?

'देवकीका गर्भ नष्ट हो गया !'—कंस आश्चर्य एवं भयसे चिल्लाया—'अब तो अष्टम ही आयेगा न ?'

'गर्भ नष्ट हो गया—भ्रूणस्राव ! कितना बड़ा अनर्थ ! कितना भयंकर महा-पाप !' पुरवासियोंमें घर-घर यही चर्चा ! जब कि बिना वृद्ध हुए या किसीके मारे कोई मरता नहीं था, उस कालमें गर्भस्राव—अकल्पित अनर्थ था, महाभयंकर दुर्घटना थी। 'पता नहीं क्या होनेवाला है ! कंसके दुष्कर्मोंका फल है यह !' जितने मुख, उतनी बातें। कंसके भयसे किसीने स्पष्ट कुछ नहीं कहा; किन्तु उससे अनेकने संकेत किया—'यह किसी बहुत बड़े अनर्थकी सूचना है।'

'अष्टम गर्भ आनेवाला है ! पता नहीं क्या होगा !'—कंस भी कम भयभीत नहीं हुआ अन्तरमें; किंतु बाहर उसने उपेक्षाका भाव ही दिखाया।

योगमाया—कहाँ आकर्षित करें वे माता देवकीके इस शुक्लकेश-सम्भूतको ? माता रोहिणीके अंकमें आनेके लिए तो उस नित्य गोलोकविहारीका अग्रज आ रहा है। अच्छा है, व्रजलीला हो तबतक यह उस संकर्षणमें आकर्षित होकर एक रहे। अन्ततः भूभार-हरणके लिए इस महिमामयको मथुरामें व्यक्त भी तो होना है और वह संकर्षण—दाऊ—जब उसका अनुज 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' का व्रती है, तो उसका अग्रज क्या उसे छोड़कर कहीं जा सकता है ? वह तो नित्यव्रजविहारी है। भूमिका संरक्षण तो यह युगावतार ही करेगा; किंतु उस मञ्जुलीलाके आविर्भावमें यह एकीभूत रहे अपने उस आदिकारण पर-स्वरूपसे। संकर्षण, श्री बलराम या दाऊजी तो नित्य श्री रोहिणीनन्दन हैं। यह तो उससे एक होकर आगे मथुरामें व्यक्त होनेवाला अंश आया और एक हो गया।

× × ×

माता रोहिणी, व्रज-सौभाग्यकी साकार प्रतिमा गोकुलमें आयीं और जैसे गोकुलमें महालक्ष्मी उनकी छायाका अनुगमन करती आयी हों। व्रजेश्वरीने समझा, उन्हें बड़ी बहन प्राप्त हो गयी। उन्होंने एक दिन भी तो नन्दभवनमें अपनेको अतिथिकी भाँति नहीं रखा। जैसे वे सदासे यहीं रहती आयी हों। वस्तुभण्डार, सेवक, अन्न, वस्त्र, पूजाद्रव्य,

दानकी वस्तुएँ—सभी उन्होंने पहुंचते ही सम्भालना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें व्यवस्था देनी नहीं थी किसीको और न उन्होंने किसीसे पूछा। वे तो जन्मजात व्यवस्थामयी हैं। क्या कहाँ रहना चाहिए, किसे कैसे रक्षित रखा जायगा, किस वस्तुकी कब आवश्यकता होगी, किस सेवकको क्या करना चाहिए—एक राजरानी अचानक गोष्ठाधिपके पूरे प्रबन्ध को सहसा सम्भाल ले, है आश्चर्यजनक ही! किंतु उन्होंने तो व्रजेश्वरीको भी चकित कर दिया और उन्हें व्रजपतिकी आराधना, गोपियोंके सत्कार और गोपूजनतक सीमित रहनेको विवश कर दिया। वे बड़ी हैं, उनका आदेश टाला भी कैसे जा सकता है?

उस दिन तो गोकुलमें आनन्द-समुद्र ही उमड़ आया। श्रीनन्दरायने महर्षि शाण्डिल्य-को बुलाया है। व्रजेश्वरीने उन्हें एकान्तमें कहा है: 'जीजीकी गोद पूर्ण होनेवाली है!' गोकुल में, नन्दभवनमें बालक आयेगा। अभी तो दोहदके संस्कार ही होने हैं, पर उल्लास तो ऐसा है, जैसे वह आ गया उनके मध्य। 'गोकुलमें तो भला एक शिशु आयेगा!' जैसे सबके अपने ही पुत्र होनेवाला है! प्रथम पुत्र—माता रोहिणीका ही नहीं, वह तो गोकुलका प्रथम स्नेहभाजन आ रहा है। घर-घर उसके लिए पूजन, अनुष्ठान चलने लगे हैं। नन्दभवन तो उत्सवमय हो गया है। और जब वे महासती उदरमें तीन मासका तेज लेकर नन्दभवन आयी हैं तो अब नन्दरानीका अङ्क भी तो भरेगा ही।

माता रोहिणी, कितना सौभाग्य, कितना ऐश्वर्य, कितना वरदान लेकर आयी हैं वे व्रजमें! अभी उनकी वह चिर-प्रतीक्षित संतति आयी नहीं। कितनी महिमामय, कितनी दिव्य होगी वह संतान! व्रजके लोगोंको लगता है एक वर्ष हो गया—जैसे एक युग हो गया। इतने दिन व्यतीत हो गये और अब भी वह अज्ञात स्नेहभाजन आया नहीं। भला, कोई सामान्य संतति हो सकती है ऐसी! लोकोत्तर दिव्यपुरुष ही इस प्रकार दीर्घकालतक माताके उदरमें रहनेमें समर्थ होते हैं। अभीसे पता नहीं, कितनी भव्य-भावनाएँ उन स्नेहपूर्ण हृदयोंमें उठने लगी हैं।

दाऊ आ रहा है! माता रोहिणीको संतति होनेवाली है और गोकुलमें अनेक गृहोंमें बालकोंके आनेके लक्षण प्रकट हो चुके। दाऊ आ रहा है! उसके नित्य सहचर भी तो उसके लगभग साथ ही आयेंगे। माता रोहिणी जैसे गोकुलके लिए दैवी वरदान हो गयी हैं। उनके प्रति प्रेम, आदर और अब तो भक्ति भी बढ़ती जा रही है सबके मनमें। व्रजमें और बालक आनेवाले हैं—सबको लगता है, यह उन्हींका प्रभाव है। उन्हींके आगमनका परिणाम है।

माता रोहिणी, स्वयं उनकी बड़ी विचित्र दशा हो गयी! इतना आनन्द, इतना उल्लास और इतनी उमंग भी मनमें आ सकती है, वे सोच भी कैसे सकती थीं? व्रजेश्वरी हठात् अब उन्हें कोई कार्य करने नहीं देतीं; किन्तु उनके शरीरमें तो अवसादके स्थानपर जैसे स्फूर्तिका प्रवाह फूट पड़ा है। शक्ति—शक्तिमय ही जैसे शरीर हो गया है। 'किन्तु

वे अपने आराध्य पतिदेवसे दूर हैं' यह विचार आते ही उनकी सब उमंगें, सब उल्लास जैसे मूर्छित हो जाता है।

'यह क्या होता है ?' कोई स्वप्न दिखायी पड़े तो बात दूसरी; किन्तु दिनमें, जाग्रत् दशामें यह क्या देखती हैं वे बार-बार ? एक, दो, चार, पाँच मुखोंके, अनेक नेत्रों एवं बाहुओंके, अनेक वर्णोंके ये दिव्य पुरुष ! उन्होंने जो सुना और जाना है, उसके आधारपर इनमेंसे अनेकको वे पहचान सकती हैं; पर उन्हें अपनी पहचानमें संदेह हो गया है। भला, ब्रह्माजी, भगवान् शङ्कर, देवराज इन्द्र, गणेशजी, स्वामी कार्तिकेय, यम, वरुण आदि देवता क्यों उन्हें प्रणाम करेंगे। ये दिव्य-पुरुष तो बार-बार आते हैं, बार-बार हाथ जोड़कर कुछ स्तुति-सी करते हैं, बार-बार उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। वैसा ही वेष, वैसे ही वाहन—पता नहीं, देवताओंके सामने ये दिव्यपुरुष कौन हैं ?

कोई वृद्ध, कोई युवा, कोई बालक और उनमें वे तेजोमय चार दिगम्बर शिशु—जटा, माला, तिलक—माता जानती हैं कि ये ऋषिगण होंगे; पर देवताओंकी भाँति वे भी क्यों उनकी स्तुति-प्रदक्षिणादि कर जाया करते हैं ?

मातातक ही यह आश्चर्य सीमित नहीं है। उनके समीप रहनेवाली दासियाँतक जानती हैं कि आजकल उनके लिए सहसा अद्भुत सुगन्धसे कक्षका परिपूर्ण हो जाना साधारण बात है। चाहे सब अलक्ष्यभावसे सहसा दिव्यपुष्प गिरते हैं कि उनकी अच्छी ढेरी लग जाती है। वे दिव्यसुमन, जो मुरझाना जानते ही नहीं।

माताके शरीरसे अद्भुत कान्ति निकलने लगी है। उन्हें स्वयं लगता है, अलक्ष्य-भावसे अनेक शक्तियाँ उनकी रक्षा और सेवा कर रही हैं। कौन होंगी वे ? माता स्वयं सोच नहीं पातीं। उस दिन महर्षि शाण्डिल्यके नेत्र प्रेमाश्रुसे भर आये थे। उन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया और कह गये थे: 'जो आ रहा है, वह समस्त बलका अधिष्ठाता है। समस्त प्राणियोंके लिए परित्राण है।' और जाने क्या क्या कहा ? श्रीव्रजेश्वर कहते हैं : 'श्रीनारायण प्रसन्न हुए हैं !' माताको लगता है—कुछ अद्भुत तो है, पर भला क्या अद्भुत होगा ? एक शिशु—शिशु ही तो आयेगा !

× × ×

बुधवारका मध्याह्न, स्वाती नक्षत्र ! भाद्रशुक्ल षष्ठीकी वह परम मङ्गल धन्य तिथिको दाऊ आया ! व्रज-सौभाग्यकी वह मूर्ति; गोलोकका वह नित्य अग्रज; तेज-ओज-बल-स्नेह-सौहार्दकी वह मञ्जु-प्रतिमा ! व्रजेश्वरने सुना और आनन्दातिरेकमें एक क्षण वे ज्यों-के-त्यों रह गये। गोकुल उमड़ आया। आचार्य शाण्डिल्य तो समाचार पानेसे पूर्व ही नन्दभवनकी ओर चल चुके थे। वे सर्वज्ञ महर्षि, वे आत्माराम भी कदाचित् आतुर अभीप्सा लिये इस शिशुके आगमन-क्षणकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे।

दाऊ आया ! गोपोंके जयनाद, शङ्ख एवं तूर्य-घोषमें देव-दुन्दुभियोंका नाद भी प्रतीत होने लगा। आकाशके सुमनों और गोप-गोपियोंके करोंसे उछलते दधि-बिन्दुओंमें जैसे प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी। गोपियोंके कण्ठ भाव-क्षुब्ध हो उठे। मैयाके आनन्दका तो पार ही नहीं है। वह तो समझ ही नहीं पाती कि किसे कितना क्या देना है? जैसे आज सब देकर—विश्वका समस्त वैभव देकर भी वे सन्तुष्ट नहीं होंगी। सन्तुष्ट तो नहीं हो रहे हैं उनके क्षुद्रतम सेवक एवं सेविकाएँ। वे भी अपना सर्वस्व इस उमंगमें किसीको दे देना चाहते हैं; फिर जो व्रजपतिके अपने हैं, जो गोष्ठ रखते हैं, उन गोप-गोपियोंकी क्या चर्चा कोई करे? रोहिणीजीकी गोद भूषित होनेवाली ही है!' व्रजपतिने गुप्त रूपसे मथुराके कारागारमें यह संवाद भेज दिया था। वहाँका आदेश है: 'इसे प्रकट न होने दिया जाय! कंस अत्यन्त दुष्ट है।' श्रीव्रजेश्वरका हृदय, कितनी उमंग है उसमें! और व्रजरानी, वे तो असन्तुष्ट-सी हैं। उन्हें किसी प्रकार समझाया है श्रीनन्दरायने: 'बालकके जीवनका प्रश्न है!' उत्सव न मनानेमें ही कुशल है। यह जो कुछ हो रहा है, वह तो नित्यउत्सवमय गोकुलकी सहजचर्या है। उत्सव तो मथुरासे छिपाना ही है।

दाऊ आया ! भाद्रपदकी बढ़ी हुई सरिताओंका निर्मल जल सहसा निर्मल हो गया। सरोंमें सहसा रंग-बिरंगे कमल विकसित हो गये। लताएँ पुष्पगुच्छोंसे और तरु फलभारसे झूम उठे। रत्नाकरने सुदीर्घ लहरोंसे अपने पुलिनको मुक्तामय कर दिया। जैसे वह अनन्त भी अपने आराध्यके आगमनमें जगतीको अपने उपहार न्यौछावर करनेको आतुर हो उठा हो।

दाऊ आया ! ब्राह्मणोंके आहवनीय कुण्डोंमें अग्निदेव बिना आहुतिके ही प्रज्वलित हो उठे। ध्यानस्थ ऋषियोंके मन सहसा अतर्क्य आनन्दसे आपूरित हो गये। गौओंने हुंकार की और उनके स्तनोंसे दुग्ध-धाराएँ बहने लगीं। दिशाओंमें जैसे कुछ अद्‌भुत आनन्द प्रदीप्त हो गया हो एकबार ही।

दाऊ आया ! सहसा असुरोंके हृदय काँप उठे। उनके आयुध छूट गये हाथोंसे और वे क्यों खड़े रहनेमें असमर्थ हो रहे हैं, यह समझना सरल नहीं था उनके लिए। उन्हें लगा, कोई अलक्ष्य कर उनके गलेकी ओर बढ़ा-बढ़ा आ रहा है। भयसे एकबार ही विह्वल हो गये वे। द्विविदने एक शिखरसे दूसरेपर कूदनेकी इच्छा की थी—जीवनमें पहली बार। वह लक्ष्यच्युत हुआ, गिरा और आहत हुआ। प्रलम्ब मल्लयुद्ध करने उठा था, वह स्वतः स्खलित हुआ। ऐसा उपहास उसका कभी नहीं हुआ था। और कंस! उसकी वामभुजा, वामनेत्र एक साथ क्यों फड़के? चौंककर उसने हाथ रखा खड्‌गकी मूठपर। आज यह खड्‌ग अपने-आप कोशसे खिसककर धरापर गिर रहा है! यही या ऐसे ही कुछ सभी असुरोंको अमङ्गल-चिह्न प्राप्त हुए। दाऊ—वह दुष्टदलन—जो आ गया भूमिपर।

दाऊ आया ! जैसे पूरा व्रज आज नन्दभवनमें ही एकत्र हो जायगा। गोष्ठसे गायें,

पशुतक भाग आये हैं और वे भी नन्दद्वारसे बाहर एकत्र होकर बार-बार हुंकार कर रहे हैं। सब जयनाद कर रहे हैं तो वे क्यों पीछे रहें! उन्हींका तो यह पालक आया है।

दाऊ! प्रतप्त जाम्बूनद भी ऐसी द्युति कहाँसे पाये? प्रसूतिका-गृहमें जैसे कोई अपूर्व सुधाकर माता रोहिणीकी गोदमें आ बैठा हो। गोदमें ही तो आ बैठा वह। माताको तनिक-सी निद्रा—एक आनन्दभरी तन्द्रा-सी ज्ञात हुई और सहसा उनका हृदय गद्गद हो गया। उनकी गोदमें यह अलौकिक प्रकाशकी मञ्जुमूर्ति, यह नन्हा-सा सुकुमार पूरे चौदह महीनेकी प्रतीक्षाके पश्चात् आया और आते ही वह जैसे गम्भीर हो गया है। जैसे एकाकी आना उसे रुचा नहीं, वह गम्भीरतासे किसीकी प्रतीक्षा करने लगा है अभीसे। उस कक्षके स्निग्ध-मञ्जु प्रकाशने ही धात्रीको आकृष्ट किया, अन्यथा माता तो आनन्दमग्न हो, पता नहीं, कबतक अपने इस लालको नीरव एकटक देखती रहतीं। तभी-तभी स्मरण आया माताको: 'पतिदेव समीप होते!' आनन्द विषादमें डूब गया उनका।

दाऊ! अभी उसके लिए नान्दीमुख श्राद्ध होगा। बाबा प्रस्तुतिमें लगे हैं और महर्षि शाण्डिल्य तो विप्रोंके साथ आ भी गये। दाऊ! वह भला क्या रोना जाने? वह तो पता नहीं कब, कैसे माताकी गोदमें पहुँच गया। वह तो मैयाको देख रहा है—एक-टक जैसे कुछ नेत्रोंमें पूछता हो, और मैया व्रजेश्वरीने उठा लिया उसे गोदमें।

दाऊ आया! कंसके उस क्रूर कारागारमें भी संदेश तो किसी न किसी प्रकार व्रजेश्वरने पहुँचाया ही और यह संदेश—किन्तु आनन्द अन्तरसे नेत्रोंतक ही आबद्ध हो गया। एक प्रतिसंदेश आया गोकुल वहाँसे—'जन्म-संस्कारके अतिरिक्त शेष संस्कार स्थगित रहें—भाग्य सुयोग दे तो पीछे होते रहेंगे!' मन मानकर श्री नन्दरायको वह स्वीकार करना है।

× × ×

दाऊ आया! वह गोकुलमें क्या आज आया है? वह नित्य ही वहींका है; पर जबसे उसके प्रकट होनेके लक्षण व्यक्त हुए, व्रज तो उसी दिनसे नित्य-नूतन शुभ-संवादोंसे परिपूर्ण होने लगा है। अब तो वह आ गया है, न स्वयं माताकी गोदमें। अभी परसों भाद्रशुक्ल षष्ठीको ही वह आया है और आज यह संवाद आया व्रजपतिके समीप बरसानेसे—'श्रीवृषभानुजीकी भाग्यमयी पत्नीकी गोद अपने पिताके घर ही कन्यासे परिपूत हुई है। बरसाना व्रजेश्वरके स्वागतकी आतुर प्रतीक्षामें पलकें बिछाये हैं!'

दाऊ आया है न! उसके जन्म-होत्सवकी क्या परिसमाप्ति होनी है। श्री व्रजराज आतुरतापूर्वक बरसाने चल पड़े हैं और अब तो चला यह क्रम। अब तो उन्हें किसी-न-किसी प्रधान गोष्ठपतिके पुत्रोत्सवका सम्भार नित्य ही स्वीकार करना है। उनके गृहमें दाऊ जो आ गया है और सब कहते हैं: 'अब नन्दरानीकी अङ्क भरकर रहेगी।' बाबासे पूरा बरसाना अभीसे तो यही पूछनेको उत्सुक है। 'इस कुमारिकाका टीका वे कब ले रहे हैं?' जैसे अब तो उनकी स्वीकृतिकी ही देर है। ●

अप्रतिम सेनापति भगवान् श्रीकृष्ण

आचार्य श्री गंगाधर मिश्र

❀

अर्थ और कामकी उपभोग-वासना इतनी प्रबल होती है कि सामाजिक जीवनमें उनके उपभोगात्मक संघर्षसे बचना सर्वथा असम्भव हो जाता है। इसलिए भारतीय मनीषियोंने इनके मोहातिरेक-जन्य-उत्पीड़नको दूर करनेके लिए अविजेय-पौरुषके अशिथिल कर्मयोगको आवश्यक माना है। अर्थ और कामके साथ धर्मके समन्वयमूलक सन्तुलनकी प्रतिष्ठाके लिए धर्मयुद्ध अनिवार्य है। अधर्ममूलक अर्थ-कामके अतिचारको सहन करना मनुष्यत्वकी चरम अधोगति है। इसी अधोगतिकी दशामें पहुँचकर अर्जुन लोकमंगलके अनिवार्य-संघर्षसे भागना चाहते हैं और अपनी पलायन-वृत्तिका परिचय भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार देते हैं :

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

'यदि प्रतीकारकी भावनासे शून्य, शस्त्ररहित मुझको हाथोंमें शस्त्रोंवाले धृतराष्ट्रके पुत्र युद्धमें मार डालें, तो वह मेरेलिए अतिसुखकर होगा।'

अर्जुनके इस हीन निश्चयको समझकर भगवान् श्रीकृष्ण सच्चे कर्तव्यवेत्ता सेनापतिकी भाँति उसके प्रसुप्त-पौरुषको उद्‌बुद्ध करनेके लिए समझाते हुए कहते हैं :

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

—गीता २.३२-३३

'हे पृथापुत्र! अपने आप प्राप्त इस खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप युद्धको भाग्यशाली क्षत्रिय प्राप्त करते हैं। अब यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करोगे, तो अपने धर्म और कीर्तिको त्यागकर पापके भाजन बनोगे।'

युद्धके परिणामको सोचकर अर्जुन विशेषरूपसे उद्विग्न हैं। उनकी उद्विग्नता दूर करनेके लिए भगवान् उनसे कहते हैं :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
—गीता २.३७.३८

'यदि युद्धमें तुम मारे जाओगे, तो स्वर्ग मिलेगा। यदि विजय प्राप्त करोगे, तो पृथिवीके भोगका अधिकार सुलभ होगा। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! दृढ़निश्चयपूर्वक युद्धके प्रस्तुत हो जाओ।'

तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षा युद्ध-भूमिमें ही होती है। श्रुति कहती है: युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्। अतः युद्धको तुम्हें जीवनका परम सौभाग्य समझना चाहिए। इसे स्वजनोंकी हत्याका पाप समझना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (२१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला जानते हैं और जो इसे मारा गया समझते हैं, वे भ्रममें हैं; क्योंकि आत्मा अमृत है, अमर है।' इसलिए, अपने जातीय धर्मको भी सोचो, क्या इससे बढ़कर भी सुयोग तुम्हें जीवनमें प्राप्त हो सकता है?

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ (२.३१, ३५)

'स्वधर्मको देखकर भी तुम्हें भयकम्पित होना सर्वथा अनुचित है; क्योंकि क्षत्रियको धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कर्म नहीं होता। फलतः युद्धसे भागनेका परिणाम तुम्हारी अप्रतिष्ठा ही है। महारथी भयके कारण तुम्हें युद्धसे विमुख हुआ समझेंगे। जिनकी दृष्टिमें तुम गौरवान्वित थे, वे तुम्हें लघु समझेंगे।' 'अतः भलीभाँति समझ लो। मानवीय मनुष्यको ऐसी अकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखद होती है':

सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते। (२.३४)

'इसलिए तुम्हें अन्तःकरणसे अपने समस्त कर्मोंको मुझे समर्पित कर, इच्छा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्धके लिए तैयार हो जाना चाहिए':

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी र्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥

सांसारिक जीवनमें अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करनेवाला मनुष्य स्वयं तो पतित होता ही है, अगली पीढ़ीको पतित बनानेका अपराधी भी बन जाता है। मेरेलिए तीनों लोकोंमें कुछ भी करणीय नहीं है और न कोई अप्राप्तवस्तु प्राप्त करने योग्य ही है। फिर भी मैं निश्चय ही कर्ममें प्रवृत्त हूँ; क्योंकि यदि मैं निरलस होकर कभी कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ,

तो सब मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करेंगे। यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब लोग नष्ट हो जायेंगे। मेरे पीछे चलकर कर्महीन होकर श्रीहीन हो जायेंगे। तब मैं सृष्टिको वर्ण-संकर बनानेवाला होऊँगा और इन सब लोगोंको अपने हाथसे मारूँगा :

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ (३ २२–२४)

इस प्रकार लोकमंगलके संकल्पकी उपेक्षा करनेवाला मनुष्य आत्मप्रतारणाके उन्मादमें लोकहत्याका अपराधी बन जाता है। यही भारतीय समाजवादका मूल रहस्य है। जबतक मनुष्य अपने सत्कर्मोंसे लोकमंगल-साधनके महान् संकल्पको अनुष्ठेय नहीं बनाता, तबतक समाजमें आर्थिक संतुलनकी आशा 'खपुष्पवत्' है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारा जब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको प्रबुद्ध होते हुए नहीं देखते, तब अपनी विश्वसंहारकारिणी शक्तिसे उन्हें भयत्रस्त करके कर्तव्यपालनके लिए विवश करनेको प्रस्तुत हो जाते हैं। भगवान्‌की विराट्‌मूर्तिकी उग्रता देखकर भयकम्पित अर्जुन उनसे कहते हैं :

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

'प्रलयकालकी अग्निके तुल्य प्रकाशवाले, भयंकर दाढ़ोंवाले आपके मुखोंको देखकर निश्चय ही मुझे पूर्व-पश्चिमादि दिशाओंका ज्ञान नहीं रह गया और न कोई अवलम्ब ही प्राप्त हो रहा है। हे देवोंके देव! हे जगत्के निवासस्थान! आप प्रसन्न हों।'

यह ऐसी अवस्था है, जिसका अनुभवकर कायर सैनिक भी सेनापतिके अनुशासन-पालनमें सर्वस्वकी आहुति देनेके लिए सहज ही प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार अर्जुनको अपने प्रति पूर्ण निष्ठावान् जानकर भगवान् श्रीकृष्ण यौद्धिक सफलताके लिए प्रोत्साहन प्रदान करते हुए कहते हैं :

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥
(११. ३३-३४)

'इसलिए हे बाँयें हाथसे भी बाणको चलानेवाले अर्जुन! तुम उठो, यश प्राप्त करो और शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे भरे राज्यका उपभोग करो। निश्चय ये शत्रुगण मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं, तुम निमित्तमात्र हो। मेरे द्वारा मारे हुए द्रोण, भीष्म,

जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर-योद्धाओंको तुम मारो। दुःखका अनुभव न कर युद्ध करो। तुम युद्धमें शत्रुओंको जीत लोगे।'

यह धर्म, सत्य और न्यायकी प्रतिष्ठाके लिए संघर्षार्थ उद्यत मानवको लोकमंगल-विधायक संदेश है। अध्ययन, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा इस रहस्यको हृदयंगम कर मनुष्य निष्काम कर्मयोगका प्रत्यक्ष करानेमें समर्थ हो सकता है।

इस प्रकार 'गीता'में भगवान् श्रीकृष्णको हम अप्रतिम सेनानायकके रूपमें देखते हैं। वे जीवन-संघर्षसे भागते हुए अर्जुनका सफल नेतृत्व करते हैं।

निराशावादी क्लीवताने हमारे सामान्य जीवनको इतना सहिष्णु बना दिया है कि असन्तुलन और अत्याचारकी चक्कीमें पिसे जाते हुए भी हम जीवनाधिकारके लिए संघर्ष करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। शताब्दियोंसे 'ना घर मेरा, ना घर तेरा, दुनिया चिड़िया रैन-बसेरा'के उपदेशने व्यक्तिको लोकधर्मके प्रति पूर्ण निरपेक्ष बना दिया है। नास्तिकतावादका ही दुष्परिणाम 'खाओ, पीओ, मौज करो' होता है, जिसकी संतति भ्रष्टाचार, दुराचार, अत्याचार, शोषण, अपहरण, उत्पीड़न, लूट, छल, दंभ, कपट आदि अनेक रूपोंमें बढ़ती है। विश्वासशून्य मानव यदि विश्वासघाती और समाजद्रोही बनकर कलुषका अन्धकार फैलानेमें कृतार्थताका अनुभव करता है, तो यह स्वाभाविक है। ज्ञान, कर्म और उपासनाके मंगलमय रहस्योंको हृदयंगम करनेपर ही मोहान्धकारकी जड़ता दूर हो सकती है। अर्जुनकी जड़ता इसी प्रकार दूर हुई और उन्होंने यह स्वीकार किया।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

भगवान् श्रीकृष्णके विराट् कालमय रूपके दर्शनसे भयविस्मित अर्जुन जब उनके मनोहर मानवरूपको देखते हैं, तो उनका मोह दूर हो जाता है और वे सत्त्वस्थताकी सहज दशामें पहुँच जाते हैं।

उचित शिक्षा-दीक्षाके पश्चात् जब सैनिक प्रसन्नतापूर्वक सेनापतिके आदेशको शिरोधार्य कर सकनेमें समर्थ हो जाता है, तब सेनापतिके लिए भी आवश्यक होता है कि वह सैनिकको सामाजिक जीवनके व्यावहारिक स्तरका मर्मबोध भी करा दे।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने त्रिगुणात्मक प्रकृतिके प्रभाव एवं प्रतिक्रियासे अर्जुनको परिचित कराते हुए कहा है। 'सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंमें सत्त्वगुण स्वच्छ होनेके कारण प्रकाश करनेवाला तथा आरोग्य देनेवाला है। यह सुख और ज्ञानके साथ आत्माको बाँधता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिदशामें यदि देहधारी मरता है, तो वह सबसे ऊँचे, परमात्माको जाननेवाले कर्मयोगियोंके निर्मल शरीरोंको धारण करता है। इन तीनों गुणोंकी प्रतिक्रिया जीवनप्रवाहमें इस प्रकार प्रतिफलित होती है: सत्त्व गुणमें स्थित मनुष्य उत्तम गति पाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मध्यम गति तथा तमोगुणके स्वभावमें स्थित तामस मनुष्य नीच गतिको प्राप्त करते हैं। ●

भ्रमर-गीत : ग्राम बनाम नगर

डॉ० युगेश्वर

❀

भ्रमर-गीतमें क्या है ? गोपियों, राधा, नंद-यशोदाका प्रेम-विरह-निवेदन; निर्गुण-निराकार-योगका खंडन ! ऐसे ही उद्धव द्वारा योगमार्गका उपदेश ! विद्वानोंके एक समूहका विश्वास है कि 'सूर और नन्ददास द्वारा रचित भ्रमर-गीतमें योग और निर्गुणके विरोधकी अधिकताका कारण तात्कालिक है। विशेषकर यह कबीर, दादू आदि पिछड़ी जातिके संतोंकी निर्गुण-बानियोंके विरोधमें आया है।' यह संभव है, फिर भी यह विरोध कबीरके निर्गुण-मार्गको ही ध्यानमें रखकर है, यह कहना कठिन है। एक तो यह कि कबीरका मार्ग योगकी अपेक्षा निर्गुण और सहज-साधनाका है। दूसरा यह कि सूरने तो स्पष्ट ही गीताके ज्ञानमार्गका विरोध किया है : **समुझत नहिं ज्ञान गीता कौ, मृदु मुसकानि अरे**। सूरके पदोंमें ज्ञानकी अपेक्षा योगविरोधी पक्ष अधिक हैं। तुलसी भी तप-पर जोर देते हैं। निरगुनिया सहजोबाईका जोर योग और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिपर है :

जोगी पावै जोग सूं, ग्यानी लहै विचार।
सहजो पावै भक्ति सूं, जोग प्रेम आधार॥

इतना ही नहीं, इनसे कुछ भिन्न भी है। सर्वप्रथम भागवतको लें। यहाँ भी उद्धव कृष्णके निर्गुण रूपका संदेश देते हैं। स्वाभाविक था, सगुणको तो गोपियाँ भज ही रही थीं। उद्धवकी दृष्टिमें 'कृष्ण सब भूतोंके हृदयमें इस प्रकार विराजमान है, जिस प्रकार लकड़ीके भीतर अग्नि रहता है।' यहाँ' उद्धव भक्तिका निषेध नहीं करते। हाँ, संबंधोंका निषेध अवश्य करते हैं : 'उनके न कोई माता है, न पिता है, न भाई है और न सुतादि ही हैं। उनके न कोई अपना और न पराया है। न देह है, न जन्म है।'

सूरदास, नन्ददास, रत्नाकर आदि कवियोंने उद्धवको निर्गुण और योगमार्गका प्रतिनिधि बना दिया। गोपियाँ उनका खण्डन करने लगीं। कुछ अध्येताओंने इस मण्डन-खण्डनपर इतना अधिक बल दिया कि वही प्रमुख हो गया, विशेष छूट गया। विशेषकर एक ऐसी चीज छूट गयी, जो संपूर्ण कृष्ण-काव्यके मूलमें है। कृष्ण नागर और गँवार दोनों हैं। गोपालक अहीर और कंसको मारनेवाले राजा हैं।

वृन्दावन गाँव है और मथुरा नगर। वृन्दावन, बरसाने और गोकुलमें गोप, गोसुत, गोपियाँ, राधा, ग्वालवाल और नन्द-यशोदा हैं। मथुरामें यह सब कहाँ है? वृन्दावनमें मित्र-समूह है, मथुरामें व्यक्ति मित्र। राजाके मित्र गिने-चुने व्यक्ति ही हो सकते हैं। राजाकी फुर्सत और राज-काजकी गुरुता तथा गोपनीयताकी दृष्टिसे भी यह ठीक है। राज-दरबारमें मित्रकी अपेक्षा मंत्री अधिक होते हैं। उद्धव सखा-मंत्रीसे हैं। वरना जहाँ सारी दुनिया कृष्णके सगुण रूपको भज रही है, वे निर्गुणमें क्यों जाते? वृन्दावनमें नदी है, पहाड़ है, वन है, तमाल और कदंबवृक्ष हैं। गोचारण और वंशीवट है। दूध, दधि, मक्खन, गुंजोंकी माला, वैजयंतीकी माला, आनन्द, उत्सव, नृत्य और क्रीड़ा है। चोरी और सीनाजोरी है। कृष्णका बचपन और कैशोर्य है। पूरा वृन्दावन एक परिवार है। कृष्ण किसीके घर जा सकते हैं। कहीं कुछ खा सकते हैं। सबसे प्रेम, हँसी और क्रीड़ा कर सकते हैं। सहजता और सरलता है। गाँवकी सादगी और गँवारका भोलापन है। प्रेममें वैधताके स्थानपर निश्छलता है।

कृष्णका वेष भी क्या है? पीताम्बर, मोरमुकुट! मुरलीका वादन! त्रिभंगी मुद्रा है। मथुरामें यह सब नहीं हो सकता। राजाकी तरह रहना होगा। राज्य शानसे चलता है, प्रदर्शनसे टिकता है। व्यस्तता राजाकी अनिवार्यता है। मथुरामें कृष्णके माता-पिता नहीं हैं? हैं, पर वे उन्हें भूले रहते हैं। प्रेयसी भी गिनी-चुनीं। प्रेयसी क्या? दासी या रानी। राजा सबसे प्रेम नहीं कर सकता। सब जगह जा नहीं सकता। फिर ऐसा राजा जो गाँवसे आया है, गँवारसे नागरिक हुआ है; अहीरसे क्षत्रिय हुआ है! कोई असभ्य न कह दे, गोपियोंने कह ही दिया: **अंत अहीर बेचारा।**

मथुरा वृन्दावनसे भिन्न है। नगर है और है राजधानी। धूल नहीं, सोनेकी है। रावणकी लंका भी सोनेकी थी। 'संकर्षणसहित कृष्णने अपराह्नमें मथुरापुरी देखनेके लिए गोपालोंसहित नगरमे प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा—नगरके ऊँचे-ऊँचे द्वार स्फटिकमणिके बने हुए हैं। उनमें बड़ी-बड़ी सोनेकी किवाड़ें लगी हैं। उत्सवके कारण सब ओर बन्दनवारें लगी हैं। धान्यागार और कोष ताम्बे और पीतल से मढ़े हैं। नगरके सब ओर खाई खुदी है।......सुवर्णमय चौराहा है।......वैडूर्य, वज्र, निर्मल नीलमणि, विद्रुम, मोती और हीरा आदिसे जड़ें वलभी अर्थात् झाँप, वेदी, झरोखे एवं फर्श आदि जगमगा रहे हैं।' (भागवत १०.४.१९-२२) नागरीदास इस मथुराके बारेमें कहते हैं। कहते क्या हैं, व्रज और मथुराका भेद बताते हैं, गाँव और शहरको अलगाते हैं। राजधानीमें प्रेम नहीं, नियम हैं। निर्गुणकी कथा राजनीतिका प्रबन्ध है, पाठ है।

ऊधौ तुम न जानत प्रेम!
बसौ मथुरा राजधानी, तहाँ व्यापक नेम। (नियम)

कथा निरगुन-ग्यान-सू को राजनीति प्रबन्ध ॥

मथुरामें कृष्णकी भेंट जिस स्त्रीसे हुई, वह कुब्जा थी। हम आजकी कथा पढ़ रहे है। कुब्जा माने कुंठा। उस नारीमें कुंठा थी। दरबारी नारी कुंठित होती है। राजा कुंठिताको पसन्द करता है। कंसके अत्याचारने उसे कुंठित बना दिया था। दरबारी स्त्रीमें गँवईकी मुक्तता और स्वच्छंदता नहीं। गाँवकी प्रकृति मुक्त है। दरबारमें महलका घेरा ऊँचा है, ठोस है। कौन लांघ सकता है? यहाँ नारी-जीवनमें विविधता नहीं है। गँवार कृष्णके सम्पर्कसे नगर-नारीकी कुब्जता दूर हो गयी, किन्तु कृष्णका रास छूट गया। बंसी गुम हो गयी। दहीका मटका फूट गया। मोरपंखका मुकुट सुवर्ण-रत्नोंमें बदल गया। यहाँ धातुका ठोसपन है, पंखोंकी कोमलता नहीं। दुंदुभि और नगाड़ोंका घनत्व है, बंसीकी मृदुता नहीं। मेवा, मिष्ठान्न और नाना पक्वान्न हैं, किन्तु माखनकी चिक्कणता और मिश्रीकी मिठास नहीं। सब-कुछ औपचारिक है। सारे सम्बन्धोंमें नियमोंकी दीवार है।

कृष्णका मन ऊबा होगा। मथुरा कृष्णका प्रवास था। कृष्णको अपना बचपन याद आया। आदमी कहीं चला जाय, कितना बड़ा क्यों न हो जाय; उसका गांव, उसके गाँवके लोग, बाल-सखा उसे और भी याद आते हैं। अहा ग्राम्य-जीवन भी क्या है! कृष्णके इस मनको आचार्य शुक्लने समझा था। उनकी दृष्टिसे वृन्दावनके प्रति कृष्णका प्रेम साहचर्यजन्य था। वह हेतुज्ञानशून्य था। शुक्लजी कहते हैं: 'हम किसी किसानको उसकी झोपड़ीसे हटाकर किसी दूर देश ले जाकर राजभवनमें टिका दें तो वह उस झोपड़ीका, छप्परपर चढ़ी कुम्हड़ेकी बेलका, सामनेके नीमके पेड़का, द्वारपर बँधे चौपायोंका ध्यान करके आँसू बहायेगा। कृष्णके आँसू बहने लगे। उन्होंने वृष्णियोंके सर्वश्रेष्ठ मंत्री अपने प्रियसखा उद्धवसे कहा: 'तुम व्रज जाओ।'

उद्धव व्रज गये। वह व्रज कैसी थी? 'वह व्रज पुष्पवती गौओंके लिए आपसमें लड़नेवाले मतवाले साँड़ोंसे शब्दायमान थी। गायें अपने स्तनोंके भारसे भारान्वित होती हुई भी अपने-अपने बछड़ोंपर दौड़ती थीं, उनके आलिंगनके लिए उनकी ओर जाती हैं। इधर-उधर दौड़ती हुई सफेद गौओंके बछड़ोंसे शोभित व्रज गोदोहनके शब्दोंसे झंकृत, वंशीध्वनिसे प्लावित है।' भारतके किसी भी गाँवकी गोधूलिका यह चित्र है; नगरमें, राजधानीमें यह नहीं है। कृष्णका मन व्याकुल हो रहा है:

ऊधौ मोहि व्रज बिसरत नाहीं!
हंस-सुताकी सुंदर कगरी अरु कुंजनिकी छाहीं॥
वै सुरभी वह बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिली करत कुलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचनकी नगरी मणि मुक्ताहल जाही।
जबहि सुरति आवति वा सुखकी जिय उमगति तन नाहीं॥

शहरमें एक प्रकारकी ऊब है। सम्पूर्ण कृष्णकाव्य ग्राम्य-काव्य है। शहर और ठाटके विरुद्ध कुंजों और साधारणताका काव्य है। शायद कोई कवि हो, जो मथुराकी कल्पना करता हो। मथुरामें कृष्ण राजा है। राजा भक्तका उपास्य नहीं हो सकता। अन्य धर्म-परिवारमें पैदा रसखानि कृष्णके राजरूपपर फिदा नहीं होते। वृन्दावनी कृष्ण ही उनके मुख्य आकर्षण हैं : **मानुष हौं तो वहै रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।** पूरा कृष्ण-काव्य नगर और राजधानी सभ्यताका विरोधी है। केन्द्रीकरण, नगरीकरणके विरुद्ध गांव और गोचारणका समर्थक है। व्रज, जो चलता है। ग्राम-सभ्यतामें गति है। नगर मथुरा जड़ है। मथी जाकर भी स्थितिशील है।

उद्धव नगरी सभ्यता, दरबारी-संस्कृतिका उपदेश देते हैं। दरवारी संस्कृतिमें निर्गुणके लिए बहुत गुंजाइश है। निर्गुण एक ओर आदमीको अतींद्रिय दुनियामें ले जाता है, गंभीर बनाता है। दूसरी ओर वायवी और प्रपंची भी। वस्तुस्थितिसे भगाता है। गोपियोंका सगुण अपने आस-पासके प्रति प्रेम है। मित्र और स्वजनको प्यार है। यह देशीका पर्याय है। राजा कृष्ण उससे आगे हैं। उनके दरबारी कृष्णको सामान्यजन, अपने गाँव घरकी निष्ठासे अलग करना चाहते हैं। इसीलिए वे निर्गुणका उपदेश देते हैं। निर्गुण देशीका विरोधी है। गोपियाँ पूछती हैं : **निर्गुन कौन देशके वासी?** उद्धव द्वारा निर्गुण और योगका उपदेश एक ढोंग है, षडयंत्र हैं। प्रेमकी साकारताके स्थानपर व्यक्तिगत साधनाका भटकाव है। इस योगमें नारीके लिए स्थान नहीं है। योग समूहकी साधना नहीं हो सकता। निर्गुण-निराकार सामान्यजनकी पकड़के बाहर है। उसमें दरबारी व्यक्ति जैसी सिद्धि चाहिए। गोपियोंने उद्धवके निर्गुण योगको ठुकरा दिया; क्योंकि इस निर्गुणमें देशी और साधारणताके विरोधका षड़यंत्र था।

क्या उद्धने ग्राम्य-संस्कृतिका विरोध किया था? नगर-संस्कृति, दरबारी जीवनका समर्थन किया था? नहीं। चालाक उद्धव इनके बारेमे मौन हैं। केवल यहां बताते हैं कि कृष्ण अब राज-काजमें लग गये हैं। उनके कारण मथुरानगरके लोग सुखी है : **नगर-लोग सुखी बसत हैं, भये सुरनिके काज।** स्वयम् कृष्णने गोकुल-जीवनके प्रति गम्भीर ममता व्यक्त की थी। किन्तु चतुर गोपियाँ समझती हैं। वे समझती हैं, कृष्ण राजा हो गये हैं; अब हमें भूल रहे है। कुछ बहका रहे हैं। अब गोकुलकी चीजें देखकर कृष्णको कुछ-कुछ शर्म आती है। वे लजाते हैं :

> **सुनियत मुरली देखि लजात!**
> **दूरहिं ते सिंहासन बैठे सीस नाइ मुसकात।**
> **मोरपच्छको व्यजन बिलोकत बहरावत कहि बात॥**
> **जौ कहीं सुनत हमारी चर्चा चालत हो चप जात।**
> **सुरभी लिखत चित्रकी रेखा, सोंचेहु सकुचात॥**

किन्तु गोपियाँ कब माननेवाली थीं ? कह दिया :

सूरदास जो ब्रजहि बिसार्‌यो दूध दही कत खात ।

नगर-संस्कृति द्वैधभाववाली होती है :

मुख औरै अंतरगति औरै पतियाँ लिखि पठवतजु बनाइ ।

गोकुलमें गोपियाँ और कृष्णका प्रेम गहरा था । गोपियाँ उद्धवसे पूछती हैं ; 'क्यों उद्धव, अपनी पुरस्त्रियोंके बीच कृष्ण कभी हमारी भी याद करते हैं ? कृष्णने शत्रुको मार लिया, उसका राज्य लिया । राजकन्याओंसे विवाह कर लिया और अपने सुहृदोंको भी पा लिया । इसीलिए कृष्ण हम जंगली स्त्रियोंको भूल गये ।' राजा होनेसे कृष्णमें नया भेद बढ़ गया । कहा जो राज जाइ भयौ । हमकौ कहत औरकी औरै पायौ भेद नयो ।

नंददासकी गोपीकी दृष्टिमें कृष्ण राज्य पाकर इतरा गये हैं :

कोहू कहै अहौ स्याम कह इतराइ गये हो ।
मथुराको अधिकार पाइ महराज भये हौ ॥

गोपियोंको लगता है कि राजा कृष्ण अब ग्वालोंके गाँवमें आनेमें लज्जाका अनुभव करते हैं :

हम अहीर अबला ब्रजवासी वै जदुपति जदुराई ।
कहा भयौ जु भए जदुनंदन अब यह पदवी पाई ।
सकुचन आवत घोष बसतकी तजि ब्रज गये पराई ॥

यही नहीं, अब कृष्ण गाँवमें नहीं बसेंगे :

अब हरि क्यों बसै गोकुल गंवई ?
बसत नगर नागर लोगनि मैं, नहीं पहिचानि भई ॥

राजनीतिके कारण कृष्ण गोपीको भूल रहे हैं :

राजनीतिकी रीति सुनौ हो, चरत बारि बर खेत ।

गोपियोंका निवेदन उस स्त्रीकी विरह-व्यंजना है, जिसका पति उसे छोड़ परदेश चला गया है । वह पथिकसे संदेशा देती कहती है :

ऊधौ पा लागति हौ कहियौ, स्यामहि इतनी बात ।
इतनी दूर बसत क्यौ बिसरे, अपने जननी-तात ॥

रत्नाकरने भी अपने 'उद्धव-शतक'में उद्धवको ज्ञानका प्रतिनिधि माना है । किन्तु वृन्दावन और गोपियोंके प्रभावके सामने वह गौण हो गया हैं । उद्धव ज्यों ही वृन्दावनके कछारमें आये, उनकी ज्ञान-गठरी सरक गयी :

ज्ञान-गठरीकी गांठि छरकि न जान्यो कब ,
हरैं हरै पूंजी सब सरकि कछार मैं ।

डार में तमालनिकी कछु बिरमानी अरु,
कुछ अरुझानी है करीरनिके झारमैं।

ब्रजका प्रभाव कुछ निराला है। और है :

गोकुलके गाँवकी गलीमैं पग पारत ही,
भूमि कै प्रभाव भाव और भरिवै लगे।

गोपियोंने उद्धवसे स्पष्ट पूछा। नीचेकी पंक्तियोंमें गाँव और नगरकी संस्कृतिकी टक्कर है।

षटरस व्यंजन तौ रंजन सदा ही करै,
ऊधौ नवनीत हूँ स-प्रीति कहूँ पावै है।
कहै रतनाकर विरद तो बखाने सबै,
साची कहौ केते कहि लालन लड़ावै है।
रतन-सिंहासन विराजि पाकसासन लौ,
जग-चहु-पासनि तौ सासन चलावै है।
जाइ जमुनातट पै कोऊ बट-छाहि माहि,
पासुरी उमाहि कवौ वासुरी वजावै है॥

गाँवकी स्त्रीका संदेह ठीक है। राज-दरबारमें ये सब चीजें कहा हैं? इसीलिए उद्धवकी गोपियोंने वे ही वस्तुएँ दीं, जो कृष्णको प्रिय हैं :

कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिये,
कोऊ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आसुरी।
भावभरी कोऊ लिये रुचिर सजाव दही,
कोऊ मही मञ्जु दाबि दलकति पासुरी।
पीत-पट नन्द-जुसमति नवनीत नयौ,
कीरति-कुमारी सुखारी दई बाँसुरी॥

कृष्ण-काव्यमें ग्राम्य-जीवनकी उद्दामता, खुलापन और चंचलता है। 'भ्रमर-गीत'में नगर-जीवनके विरुद्ध भावावेश है। गाँवका पलड़ा भारी है; क्योंकि गोपियाँ बीस हैं।

सत्यनारायण कविरत्नकी यशोदाकी दृष्टि साफ है। कृष्ण परदेश गये हैं। गाँव छोड़कर राजधानी गये हैं पुरुषार्थ दिखाने। अब कृष्णको लौटना चाहिए। गाँवके सभी जीव उनका इंतजार कर रहे हैं। कालिदासकी शकुंतला वनसे राजभवन जा रही थी। मृगछौने उदास थे। जिन पेड़ों-लताओंको कुंभ-कलशसे सींचा था, उन्हें प्यार करती है। ग्राम्य और वन-जीवन का अनोखापन है, सहज प्रेम और सहजानन्द। कोई औपचारिकता नहीं। कविरत्नके यहाँ कृष्णके बिना पलास उदास है, अशोकको शोक हो गया है। बौरे रसाल दुःखी हैं। सभी जड़ दुःखित होकर मलीन हो गये हैं। माता यशोदाको परेशानी

है : 'यहाँ वृन्दावनमें मिश्री-मिला नया उत्तम किस्मका मक्खन है। भला शहरमें ऐसी ताजी चीज कहाँ मिलेगी ?' सुबह-सुबह उन्हें लगता है कि शहरमें कृष्ण भूखे रह जाते होंगे :

यह कौ नव नवनीत मिल्यौ मिसरी अति उत्तम,
भला इकै मिलि कहा सहरमें सद याके सम।
रहै यही लालो अजहुँ काढन यहि जब भोर,
भूखो रहत न होई कहूँ मेरो माखन-चोर॥

किन्तु यह भी सच है कि कृष्ण अब गाँव नहीं लौटेंगे। अब वे राजधानीपर राजधानी बसायेंगे। मथुरातक गाँवके इस वीरको कभी हार नहीं खानी पड़ी थी। उन्होंने न जाने कितनोंका दमन किया। गोपियोंकी, माता यशोदाकी भावनाएँ उनके साथ थीं :

जहँ जहँ जाहु राज तुम करहु लेहु कोटि सिरभार।
यह असीस हम देति सूर सुनुन्हात खसै जनिवार॥

मथुराके कृष्ण गोपियोंकी यादकर अपनेको ताजा करते थे। उनमें नयी आशाका संचार होता था। गाँवका वही पहलवान नगरकी रमणियोंमें फँसकर कमजोर हो गया। द्वारिकाके मार्गमें उसे पराजय भोगनी पड़ी। शहर आदमीको कमजोर करता है।

शहर और राजधानीमें आदमी बदल जाता है। कृष्ण काले हो गये। तो क्या वृन्दावनके कृष्ण गौर थे ? नहीं। अब उनका हृदय काला हो गया है। अक्रूर भी काले थे। उद्धव भी काले हैं, भ्रमर भी काला है।

वा मथुरा काजल की कोठरि जे आवत ते कारे।

कज्जलता मथुराकी है। यहाँ यशोदानन्दन जैसा सयाना भी काला हो गया। आज भी गोपियोंको आशा है, कभी हमारे कान्हा काजल-कोठरी (मथुरा) से मुक्त होंगे। गोपियोंका विश्वास है। वे इन्तजार कर रही हैं। इन्तजार और इन्तजार कर रही हैं; कब लौटोगे कृष्ण ? अपने गाँवकी ओर ? राजा बदलते हैं। राजधानियाँ बदलती हैं। किन्तु गाँव आज भी गाँव है। कंस गाँवके नेताको मार देना चाहता है। हलधर का भैया उसका दुश्मन है। बालक कृष्ण गाँव है, राजा कृष्ण नगर। राजधानीके कृष्ण कंसको मारकर कंस नहीं बने, किन्तु राजा बन गये। अक्रूरने गाँवको धोखा दिया था। उद्धव गाँवको ठगने आये थे।

सूर मूर अक्रूर लै गयो ब्याज निबेरत ऊधो।

राजा गाँवसे ब्याज लेता है, टैक्स वसूलता है; किंतु गाँवको भूल जाता है। गाँवका नेता नगरमें खो जाता है। गाँवके प्रति मोह रखकर भी शहरी हो जाता है। मथुराके कृष्ण शहरी और राजकीय हो गये। भक्तिकालके बाद रीतिकालका काव्य मथुराका काव्य है; राजधानीकी जड़ताका काव्य है तथा अलंकरण और सजावटका काव्य है।

●

श्रीकृष्ण-जन्म-रहस्य

श्री हरिकिशनदास अग्रवाल

❀

श्रीकृष्णका जन्म एक रहस्य है। उनका जन्म अन्धकारमें और कारागारमें हुआ था, यह इस बातका प्रतीक है कि जहाँ भगवान् प्रकट होते हैं वहाँ अज्ञानान्धकार नहीं रह जाता और न बन्धनरूप ताला ही रह सकता है। कारण, जब श्रीकृष्णका जन्म हुआ तो कंसके लगाये हुए ताले स्वयं खुल गये, पहरेदार घनघोर निद्रामें सो गये। परमात्माके घरमें कोई ताला नहीं। केवल भ्रान्तिरूपी ताला ही लगा हुआ है। जब भ्रांतिकी निवृत्ति होती है तो पता चलता है कि ताला तो खुला ही हुआ था।

एक राजाने वजीरकी नियुक्ति करनेके लिए घोषणा की : जो "कारागारमें से ताला तोड़कर सबसे पहले बाहर आयेगा उसे ही वजीरके पदपर नियुक्त किया जायगा।"

वजीर बननेके लिए कई व्यक्तियोंने कोशिश की, परन्तु सभी निष्फल रहे। उनमेंसे एक व्यक्ति काफी विचारवान् था। उसने सोचा कि जाकर देखूँ तो सही कि आखिर ताला बन्द है या नहीं? जब उसने तालेके पास जाकर देखा तो ताला सिर्फ अटका हुआ था।

देवकीके सात बालक कंसने मरवा डाले थे, श्रीकृष्ण आठवें थे। जब इनका जन्म हुआ तो कारागारकी अन्धकारमय कोठरीमें प्रकाश ही प्रकाश फैल गया था।

श्रीकृष्णका जीवन ही लीलामय है। कृष्णमें इतना आकर्षक था की गोपिकाएँ अपना-अपना काम छोड़कर कृष्णको देखा करती थीं। जब श्रीकृष्णकी बांसुरी वृन्दावनकी कुँजगलियोंमें बजती थी, तो रोटी पकाती गोपियाँ रोटी पकाना ही छोड़ देती थीं, गोबर पाथती गोपियाँ गोबर पाथना ही बन्द कर देती थीं; गाय चराती गोपियाँ गायोंको ही छोड़कर श्रीकृष्णके पास भाग आती थीं। कृष्णको देखते ही इतनी तन्मय हो जाती थीं कि स्वयंकी सुध भूल जाती थीं।

परमात्म-मिलनसे मनमें बसा हुआ संसार विलीन हो जाता है और केवल परमात्मा ही शेष रह जाता है। सारा संसार ब्रह्ममय ही प्रतीत होता है।

कृष्णके जन्मके समय आकाशमें काले बादलोंकी घनघनाहट हो रही थी, मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बादलोंका रंग भी घनश्याम और कृष्णका रंग भी घनश्याम! दोनोंमें

सजातीयताका मिलन है। मेघ जल वर्षाकर जिस प्रकार सूखी भूमिको हरी-भरी बना देते हैं, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीताके रूपमें ज्ञान-वर्षाकर समस्त संसारको अज्ञानान्धकारसे निकालकर ज्ञानके प्रकाशसे आलोकित कर दिया है।

श्रीकृष्णका जन्म लेना और व्रजमें गोपिकाओंके साथ, रासलीलाएँ करना इस बातका प्रतीक है कि सारा संसार एक खेल है, इसमें मनुष्य नाचते हुए, कूदते हुए, प्रेम करते हुए, सब प्रकारके व्यवहार करते हुए भी आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। उसके लिए गृहस्थी छोड़ना या जंगलोंमें जाना ही कोई आवश्यकक नहीं।

संसारकी प्रत्येक उलझनमें उलझनेपर भी, हर मुश्किलका सामना करनेपर भी मनुष्यकी मनःस्थिति शान्त रहे—बस यही श्रीकृष्णका उपदेश है।

जितने कष्टोंका सामना कृष्णने किया, शायद किसी मनुष्यने आजतक किया हो। कंसके विभिन्न प्रकारके षड्यन्त्रोंसे बचते हुए भी और उसके हर दूतके साथ संघर्ष करके स्वयंका बचाव करते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण हँसते और शान्त होकर ग्वाल-बालोंके साथ खेलते रहते थे। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीका उत्सव भारतके कोने-कोनेमें सहर्ष मनाया जाता है। विभिन्न भक्त विभिन्न रीति-रिवाजसे जन्माष्टमीका उत्सव मनाते हैं। भगवान्‌के दर्शन करनेके पश्चात् प्रसाद ग्रहण करते हैं। इसका विशेष योजनाबद्ध कार्यक्रम मथुरा और वृन्दावनमें मनाया जाता है। भगवान्‌का प्रादुर्भाव वहाँ होता है जहाँ प्रेम हो, भक्ति हो। भक्ति आनन्दरस प्रदान करती है। भक्ति, आनन्द-ब्रह्म है, शरणागति है। भक्तिमें कुछ बनना-बनाना नहीं है; किन्तु स्वयंको उसमें समर्पण करना है। जहाँ मनुष्यकी ममता मिट जाती है वहाँ सिर्फ श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं।

श्रीकृष्ण गीतामें बताते हैं कि मैं जन्म तब लेता हूँ, जब धर्मकी ग्लानि होती है। अधर्मका अभ्युत्थान होता है, असुर, अधम और अभिमानियोंकी संख्या बढ़ जाती है। तब मैं धर्मकी रक्षा करनेके लिए, अधर्मका नाश करनेके लिए साधुओं (सज्जनों) की रक्षाके लिए और दुर्जनोंके विनाशके लिए पृथ्वीपर अवतरित होता हूँ।

●

सत्य और निर्भयता

श्री रामकुमार भुवालका
भू० पू० संसद्-सदस्य

❋

मानव-जीवन मात्र घटनाओं और दुर्घटनाओंकी निर्मिति नहीं। यह एक विशाल उपन्यास है, जिसमें प्रवृत्तियाँ प्रधान पात्रोंकी भूमिका करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ, जो शुभ हो सकती हैं और अशुभ भी, परस्पर संघर्ष और सहयोग करते हुए विषय-वस्तुका प्रसार एवं विकास करती हैं। इन प्रवृत्तियोंके इस संघर्षके फलस्वरूप ही चरित्रका निर्माण होता है। साधु-प्रवृत्तियोंकी प्रधानता मनुष्यको सच्चरित्र बनाती हैं तो अन्तः संघर्षमें अमांगलिक, अशुभ-प्रवृत्तियोंकी विजय दुश्चरित्रताका सृजन करती हैं।

प्रवृत्तियोंका यह संघर्ष स्वाभाविक एवं शाश्वत है, जो जीवनके आरम्भसे लेकर अन्ततक चलता है। कभी-कभी सच्चरित्र व्यक्तिके जीवनमें भी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब अन्तःसंघर्षमें अशुभ-प्रवृत्तियोंकी अस्थायी जीतके फलस्वरूप उसके आचरणमें भ्रष्टता या च्युति दिखलायी देने लगती है।

ऐसा भी देखा गया है कि जो व्यक्ति आरम्भमें दीर्घकालतक सच्चरित्र रहा है, वह अन्तमें आचरण-भ्रष्ट हो जाता है। हमारे मध्ययुगके अनेक ख्यातिनामा शासक इस चरित्रभ्रष्टताके प्रमाण हैं। साथ ही यह भी देखा गया कि कोई-कोई व्यक्ति चरित्रभ्रष्टताके दुश्चक्रसे मुक्त होकर चरित्रवान् बन जाता है। महर्षि बाल्मीकिके जीवनका विकास-क्रम इसी प्रक्रियाका प्रमाण बना।

मानव-चरित्र क्या है ?

अब यहाँ इस सन्दर्भमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान प्रश्न यह है कि चरित्र वस्तुतः है क्या और इसके उत्थान-पतनका मुख्य कारण क्या है ? दूसरे शब्दोंमें, वह कौन-सा तत्त्व है, जो मनुष्यको उठाकर राम या गिराकर रावण बनाता है ? यह प्रश्न दर्शनशास्त्रियों और अध्यात्मवादियोंका प्रधान चिन्तन-विषय रहा है। मेरे मतमें सत्य ही एक ऐसा तत्त्व है, जो मनुष्यका चरित्र निर्माण करता है।

सत्यान्वेषण वस्तुतः विश्वका सबसे अधिक प्राचीन अभियान है। वैदिककालके ऋषियोंसे आधुनिक कालके गांधी और विनोबातक मानव इसकी खोज करता आ रहा हैं। इस खोजका अन्त ही नजर नहीं आता और सम्भवतः है भी नहीं। यह सर्वाधिक विराट् और सूक्ष्म है, मनुष्यकी दृष्टि इतनी परिधिबद्ध है कि वह कभी भी इसे समग्रतः नहीं देख सकती। उसे सभी आयामोंमें एक साथ देखनेके प्रयास अभीतक सफल नहीं हो पाये हैं और इसलिए यह महा-अभियान जारी है।

सभी धर्मोंकी मान्यता है कि ईश्वर अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी और विराट्तम है। सत्यमें भी ये ही सारे गुण हैं। इसीलिए गांधीजीने कहा था कि 'ईश्वर ही सत्य है' अथवा 'सत्य ही ईश्वर है'। जिस प्रकार सत्यकी खोज आरम्भसे की जा रही है और अभीतक जारी है, उसी प्रकार ईश्वरकी खोजका भी आदि-अन्त नहीं है।

ईश्वरको सच्चिदानन्द (सत्, चित्, आनन्द) कहते हैं। अर्थ स्पष्ट है कि 'ईश्वर' और 'सत्य' पर्यायवाची हैं। हम ईश्वरको सच्चिदानन्द कहें या सत्यनारायण, वास्तविकता यह है कि हम ईश्वरको सत्यके रूपमें खोजनेकी चेष्टा करते हैं। यही वाल्मीकिने कहा था : **सत्यमेवेश्वरो लोके धर्म सत्ये सदाश्रित** : 'चूंकि ईश्वर अजेय है, इसलिए सत्य भी अजेय है। इसीलिए **सत्यमेव जयते**।

सत्य और निर्भयताका सम्बन्ध

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सत्य और निर्भयताका सम्बन्ध क्या है ? मेरे मतसे यह प्रश्न ऐसा ही है, जैसा यह प्रश्न कि अग्नि और तापका सम्बन्ध क्या है ? अग्नि, ज्योतिहीन हो सकता है, पर तापहीन नहीं। जहाँ अग्नि है, वहाँ ताप है और जहाँ ताप है, वहाँ अग्नि, भले ही वह अदृश्य हो। इसी प्रकार सत्य और निर्भयता अभिन्न है। यदि ऐसा न होता तो सुकरातको विषपान न करना पड़ता और न गैलिलियो-को पोपका क्रोध-भाजन बनना पड़ता।

जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, वे भी सत्यको मानते हैं। अनीश्वरवाद अनैति-कताका पर्याय नहीं। महर्षि चार्वाकका सत्यप्रेम कौन नहीं जानता ? इसी सत्यप्रेमके कारण उन्हें अग्निदाहमें अपने प्राण होमने पड़े। प्रकट है कि ईश्वरके विषयमें मत-भिन्नता हो सकती है, पर सत्यके विषयमें पूर्ण मतैक्य है। सभी धर्म, मत और सम्प्रदाय इसपर एकमत हैं और निर्भयता सत्यकी अनिवार्य पूर्व-शर्त है। जिस प्रकार अग्निके बिना ताप उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार निर्भयताके बगैर सत्यकी कल्पना नहीं की जा सकती।

निर्भयता सद्गुणोंकी जननी

निर्भयता सभी सद्गुणोंकी जननी है, क्योंकि वह सत्यकी अभिन्न सहचरी या

पर्याय है। इतिहास-प्रसिद्ध महाराज शिवाजी, महाराणा प्रताप, बाल गंगाधर तिलक, गोखले, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और अन्तमें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी इन सभी महापुरुषोंने निर्भयतासे ही उन सद्गुणोंका अर्जन किया था, जिन्होंने इन्हें इतिहास-प्रसिद्ध बनाया। ये सभी सत्यपुरुष थे। सभी दुर्गुण कपट, हिंसा, निन्दा, विश्वासघात, धोखाधड़ी, अहंकार, मोह, लोभ आदि असत्यके रूप हैं, जो निर्भयता-के अभावमें उत्पन्न होते हैं।

सत्यान्वेषीका जीवन

सत्य निर्भयतासे अभिन्न क्यों हैं? इसीलिए कि वह अत्यन्त दुष्कर है। वह जीवनसे भी ऊपर है। सत्यान्वेषी जीवनका मोह नहीं करते। यदि ऐसा न होता तो कोलम्बस महासागरोंको चुनौती न दे पाता। राजकुमार गौतम कपिलवस्तुकी राजसत्ता त्यागकर दर-दर न भटकते। सुकरात विषपान न करते। ईसा क्रूसपर न चढ़ते और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी सहज-सुलभ राज-वैभवका मोह त्यागकर 'रघुपति राघव राजा-राम' की शरण न लेते।

सत्यान्वेषीका प्रेरक जीवन

सत्यान्वेषीका जीवन कितना पावन, किन्तु कठिनाईपूर्ण होता है, इसका एक उदाहरण गांधीजीने अपने जीवनसे प्रदर्शित कर दिया। वे जो कहते, वही करते हैं। चाहे इसके लिए उन्हें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। यही निर्भयता है और सत्यके प्रति आग्रह है। सत्यके प्रति आग्रह सत्याग्रह है, जिसका प्रचलन राजनीतिक क्षेत्रमें गांधीजी-ने किया। आखिर उनके जीवनका अन्त कैसा हुआ? एक हत्यारेकी गोलियोंने उनके शरीर-से प्राण हर लिये। हर सत्यान्वेषीका अन्त यही होता हो, यह निश्चित नहीं, पर सत्य-मार्गपर युगका नेतृत्व करनेवालोंको यह कीमत अवश्य चुकानी ही पड़ती है।

'असत्यको त्यागने और सत्यको ग्रहण करनेके लिए हमेशा उद्यत रहना चाहिए' यह कहनेवाले महर्षि दयानन्दको भी इसी प्रकार एक वेश्याके षड्यन्त्रका शिकार होना पड़ा था। यह उन्हें सत्य-भाषणका पुरस्कार मिला। 'सत्यार्थ-प्रकाश'के रचयिताकी यही नियति थी।

सत्यग्रहण दुष्कर!

सत्य-ग्रहण करना आसान नहीं हैं। हम सभी कोशिश तो यही करते हैं, पर क्या सफल भी हो पाते हैं? हम सभीमें दंभ है, अहंकार है और है सुखी-जीवनका मोह। सुखके ईर्द-गिर्द ही सारा संसार चक्कर काट रहा है। यही कारण है कि घृणा, वैमनस्य, कपट, झूठ सर्वव्यापी हैं। लोग एक दूसरेको धोखा देनेकी कोशिश करते हैं। लगता है कि पाखण्डने सत्यको ग्रस लिया है। महा झूठे ! लोग भी अपने झूठको सत्यका जामा

पहनानेकी कोशिश करते हैं। हिटलरके प्रचार-अधिकारी गोवेल्सको कौन भूल सकता है? आज असंख्य गोवेल्स सर्वत्र सुलभ हैं।

जहाँ सत्य है, वहाँ निर्भयता है और जहाँ निर्भयता है, वहाँ सभी गुण हैं। निर्भयता ही आजकी सारी समस्याओंका निराकरण कर सकती है। वही इस अंधे युगको दृष्टि प्रदान कर सकती है। किन्तु यह कोई आसान काम है? कितने लोग इस महायज्ञमें अपने जीवनकी बलि देनेको तैयार हैं?

विश्वामित्र जैसी क्षमताकी जरूरत

गुणीजन राजाश्रयमें नगरवासी वशिष्ठ बननेको तैयार भले ही हो जायँ, पर राजाश्रयसे दूर, सुख-मोहसे वंचित, वनवासी विश्वामित्र और वाल्मीकि बनकर रहनेको कितने लोग तैयार होंगे? अपने तपस्तेजसे समानान्तर स्वर्गके सृजनकी क्षमता तो विश्वामित्रमें ही हो सकती है, अन्य किसीमें नहीं। निर्भयताकी चेतना जागृत किये बगैर सम्भव नहीं। पर प्रश्न यह है कि इस कार्यको कौन पूरा करेगा?

चरणरजकी अभिलाषा

हमारे स्वामी! जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिए बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं, वही लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्षःस्थलमें बिना किसीकी प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौत तुलसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिलाषा किया करती हैं। अब तकके सभी भक्तोंने उस चरणरजका सेवन किया है। उन्हींके समान हम भी तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं।

[श्रीमद्भा० १०।२९।३७]

हे श्याम, तुम्हे शत नमस्कार !

हे श्याम तुम्हे शत नमस्कार।
तेरे पीताम्बर रँगमें रँग आती
बासंती कर शृंगार॥

यमुनाके कल स्वर-गीतोंमें
मुरलीका स्वर बोल रहा।
श्यामाका नुपूर-रव सुनकर
केकीका मन डोल रहा॥
गिरि गोवर्धनकी छायामें
छिप, रहीं गोपियाँ तुम्हे पुकार।
हे श्याम, तुम्हे शत नमस्कार॥

गोकुल सूना, मथुरा सूनी
सूना है वृन्दावन-धाम।
मीराके हैं प्राण अमर
गाते मेरे गिरिधर अभिराम॥
तेरे कुसुम-हार-सौरभको
खोज रही सब ओर बयार।
हे श्याम तुम्हे शत नमस्कार॥

कंस नहीं हैं किंतु ध्वंस है
सत्य-धर्म-नयका प्रासाद।
कौन बचाये दिशा-दिशामें
छाया अन्धकार-अवसाद॥
धरती करती स्वागत माधव,
आओ फिर लेकर अवतार।
हे श्याम तुम्हे शत नमस्कार॥

मानवता है द्रुपद-सुता-सी
तुम्हे बुलाती व्याकुल आज।
करुणा-चीर बढ़ाओ केशव,
आओ शीघ्र बचाओ लाज॥
पल-पल जल-थल-नभतलमें है
गूंजित पीड़ामय उद्गार।
हे श्याम, तुम्हे शत नमस्कार॥

—श्री जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल'—

इंजन, ड्राइवर और टैक्सी

डॉ० सुरेशव्रत राय

एम० ए०, एल-एल० बी०

❃

जंगली आदिमवासियोंकी बस्तियों एवं सघन वनोंमें छिपा 'रेणुका-क्षेत्र' और 'रेणुकूट' की ओर सर्पगति-जैसी टेढ़ी-मेढ़ी रेंगती नयी बनायी गयी रेलवे-लाइन, वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृतिसे कोसों दूर उन ग्रामवासियोंके लिए लोहेकी पटरीपर धूँआ छोड़ते हुए दौड़नेवाली लोहेकी गाड़ी भय एवं कौततूहलकी वस्तु! कहीं आँख फाड़े देखने-वालोंका झुण्ड, कहीं घड़घड़ाहट सुनकर भागते या वृक्षोंकी डालोंसे दुबकते लोगोंकी भय-मिश्रित मुद्राएँ, कहीं काले दानवकी अर्चनाके लिए जंगली फल-फूल चढ़ाता जनसंमर्द तो कहीं क्षेत्रके नये प्रतिद्वन्द्वीको पत्थरों-ढेलोंसे मार भगानेके लिए मोर्चेबन्दी करती साहसी युवकोंकी टोली...ऐसे एक-से-एक अजीबोगरीब दृश्य देखनेको मिल रहे थे।

एक छोटे स्टेशनपर एक ग्रामीण गठरी लिये चढ़ता है, वह रेलसे पूर्णतः अपरिचित नहीं, पर लगता है उसे अबतकका रेलसम्बन्धी मौखिक ज्ञान है। रेलके डिब्बेमें वह बैठा अवश्य है, पर मानो जेबकतरा है, जो गाड़ी रुकते निकल भागेगा। डिब्बेमें जगह खाली पड़ी है, पर वह गठरी बराबर अपने सिरपर ही रखे है। समझाने-बुझाने या अन्य यात्रियोंके असबावकी ओर संकेत किये जानेपर भी उसे विश्वास नहीं हो पाता और वह गठरी नहीं उतारता! ठहाके लगते रहे, लोग उसकी मूर्खतापर हँसते रहे। ठहाके आज भी कानोंमें गूँज रहे हैं।

हाँ यह पता नहीं कि हम वास्तवमें उस गँवारपर हँस रहे थे अथवा अपने ऊपर? इंजन और उसके ड्राइवरपर भरोसा न करनेवाले गँवारकी भाँति हमें भी तो शायद विश्वका संचालन करनेवालेपर भरोसा नहीं। छोटी-छोटी बातोंके लिए हम अपनेको सक्षम मानकर अनेक नगण्य कामों और उनकी चिन्ताकी गठरी अपने दैनिक जीवनमें ढोते रहते हैं। फिर भी ठहाके लगेंगे उसी गँवारपर?

●

ऐतिहासिक कहानी

आदर्श निःस्पृहता

श्री कृष्णगोपाल माथुर

❀

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।

इस सिद्धान्तके पक्के वे ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग, स्नानादिसे निवृत्त हो 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षर मंत्रका जप करते हुए धुली धोती, मिरजई-टोपी पहनकर सौरभमय तुलसीवृक्षके पास आसनपर बैठ, आरसीमें मुँह देखते हुए ललाटपर श्रीतिलक नित्य लगाया करते थे।

एक दिन वहाँ आसन-आरसी न देख उन्होंने मधुर धीमी वाणीमें पुकारा। "बिटिया! तनिक हमारे आसन-आरसी तो लाओ, हम तिलक-छापा कर लें।"

बालिका तुरन्त बोल उठी: "बाबाजी, आसन तो भैंस खा गयी, आरसी पँड़िया पी गयी। कहाँसे आसन-आरसी लाऊँ?"

सुनकर भक्त हँसे। बोले मीठे मीठे शब्दोंमें: "अरी बावरी, श्रीगोवर्धननाथजीका स्मरण कर। भोली, तूने रात्रिको भैंसको चाराके पूले नहीं दिये होंगे। सो वह क्षुधाके मारे इधर आकर आसन खा गयी, और पँड़ियाको भी रातमें जल नहीं पिलाया होगा, सो वह भी कुंडेकी आरसी पी गयी। अब चिन्ता मत कर। दूसरे आसन-आरसी ला, हम शीघ्र ही तिलक-छापा करके भगवत्सेवामें जायँगे।" भक्तके तन-मन रोम-रोमसे अष्टाक्षर मंत्रका जप चल रहा था और श्रीनाथजीके दर्शन करने जानेके विलम्बका एक क्षण कल्पके समान बीत रहा था।

दूसरे आसन-आरसी आनेपर भक्तराजने तुरन्त ही हरिस्मरणके साथ तिलक लगाया और मन्दिरमें पहुँचकर प्रेमभरी मधुरवाणीसे श्रीभगवान्‌को यों कीर्तन सुनाने लगे:

साँझके साँचे बोल तिहारे!
रजनी अनत जगे नन्द-नन्दन आये निपट सकारे।...

× × ×

"दीवानजी ! व्रजकी यात्रामें हमने श्रीनाथजीके दर्शन करके बड़ा ही सुख पाया। हमारा यह १६२० संवत् बड़ा ही लाभदायक रहा। वहाँके एक परम भावुक कीर्तनकारकी मधुर संगीत-शैलीका तो हमारे हृदयपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि भुलाया नहीं जाता। प्रबल इच्छा हो रही है कि इनसे मिलकर और भी आनन्द प्राप्त करें।"

"श्रीमंत महाराज ! ये कीर्तनकार बड़े भक्त, कवि, निर्लोभी, त्यागी, परम वैष्णव और श्रीनाथजीके सखा-स्वरूप सन्त-समान हैं। ये सदा ही भगवान्‌की समय-समयकी शृङ्गार-छटा निहारते-निहारते उनके रूप-चिन्तनमें ध्यानस्थ उसी छटाका बखान अपने कीर्तनमें करते हुए तन्मय हो जाते हैं। अपार आनन्द मिलता है दर्शकोंको। एकबार सम्राट् अकबरने इनकी बड़ी प्रशंसा सुनकर इन्हें पालकी भेजकर बड़े आदर-सम्मानके साथ बुलवाया था। किन्तु ये बड़े ही आग्रहसे पैदल गये, और वहाँके वैभवसे कुढ़कर सम्राट्‌को पद-गानमें खरी-खरी बातें सुना गये। किन्तु सहृदय और गुण-ग्राही महान् अकबर अप्रसन्न नहीं हुआ। जान गया कि जिसका अनन्त ब्रह्माण्डका नायक श्रीनाथजी सम्राट् है, वह मुझ-जैसे नारकीय सम्राट्‌की क्यों परवाह करे ? सम्राट् द्वारा कुछ माँगनेका बहुत ही आग्रह करनेपर भक्तराजने केवल इतना ही माँगा कि "अब मुझे कभी मत बुलवाना।" सम्राट्‌ने नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और आदरके साथ इन्हें स्थानपर पहुँचाया। सच तो यह है कि सच्चे हरिभक्त स्वार्थ, परमार्थ, मुक्ति, मुक्तिके लिए लालायित नहीं होते। वे तो श्रीहरिके चरणारविन्द छोड़कर निमिषमात्रके लिए भी अन्यत्र नहीं जाना चाहते।" दीवानजीने विनयपूर्वक ये बातें महाराज मानसिंहको सुनायीं।

महाराजने कुछ विचार करके कहा : "तब तो मेरे जानेपर मेरा अपमान करें, तो ?"

महाराजकी शंकाका समाधान करते हुए दीवान फिर बोले : "हुजूर, सन्तोंके कटुवचनोंको बुरा नहीं माना जाता। वे वचन एक प्रकारसे उपदेश ही होते हैं, जिनसे मानवका कल्याण होता है। राजन्, वैसे तो सन्त नवनीतके समान होते हैं, परहितके लिए अपना चर्म भी भोजपत्रकी भाँति खिचवानेको सदा सहर्ष तैयार रहते हैं। किन्तु उनके भगवत्-भजनमें बाधा पड़नेपर कभी-कभी रुष्ट होकर वे कुछ अपशब्द भी बोल जाते हैं; फिर सुननेवाला चाहे राजा हो, सम्राट् हो, रंक-राव कोई भी हो। हमें तो सन्तके दर्शनोंका लाभ उठाना है। यदि वे कुछ कहें, तो आप बुरा न मानें, यही बिनती है।"

"मेरा तो यह भी विचार हो रहा है कि राजमहलमें इनका कीर्तन हो, जिसे सुनकर महारानी भी भगवद्भजनकी प्रेरणा पायें।"

"राजन् ! यह कठिन है; क्योंकि ये कीर्तन केवल श्रीनाथजीको ही सुनाते हैं, दूसरेको नहीं।"—दीवानजीने सत्य बात महाराजसे कह दी।

"तो ठीक। हम इनसे इनके ग्राम जमनावता जाकर जरूर मिलेंगे।"—महाराजने अपना निश्चय प्रकट किया।

× × ×

महाराज मानसिंह भक्तकी कुटियापर जा पहुँचे। चारों ओर देखकर दरिद्र सुदामाकी याद आ गयी। उस समय भक्तराज घासके पूलेके आसनपर बैठे कठौतेके जलमें निहारते हुए ललाटपर तिलक लगा रहे थे। राजाको उच्चासनपर बैठाते हुए कुशल-प्रश्नके बाद उन्होंने आनेका कारण पूछा। महाराजने शिष्टाचार निभाते हुए कहा: "आपके दर्शनार्थ चला आया। तुच्छ सांसारिक जीव हूँ। आज आपके दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया।"

भक्त कुंभनदास गंभीरमुद्रामें बोले: "राजन्! दर्शन तो जगदाधार सर्वेश्वर श्रीनटवरललाके हैं, जो त्रिपापोंको कृपा-कोरसे नष्टकर जीवको परमगति दे देते हैं। मैं तो उनके दासानुदासोंकी लड़ीमें अन्तिम १००वें दासकी तुच्छ रज हूँ।"

"आप जैसे परम भक्तोंका ऐसा कहना तो भगवान्‌के पावन पादारविन्दोंमें सर्वभावेन स्वार्पण करना है। मैं आपसे कुछ उपदेश सुनना चाहता हूँ।"—राजाने विनीतभावसे नम्रतापूर्वक कहा।

"उपदेश देनेकी सामर्थ्य बड़े-बड़े विद्वानों, सन्तोंमें है। तथापि दो बातें कहता हूँ—मनुष्य धर्मका पालन करे और ऋषियों द्वारा कथित वेद-शास्त्रके अनुकूल तर्कसे सत्य प्रमाणित जो धर्म हो, उसीको जाने, दूसरेको नहीं।[1] साथ ही बालगोपालपाल लाल गिरिधर, नन्द-नन्दन, आनन्दकन्द, व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रका आठों याम साठों घड़ी यह जानकर निरन्तर भजन करता रहे कि 'प्रभो, आप ब्रह्मा हैं, आप विष्णु हैं, आप इन्द्र हैं, आप शिव हैं, आप यह सब विश्व हैं, आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2]

उपदेशसे कृतकृत्य हो मानसिंह बोले: "आदरणीय भक्तराज! मैंने आपके लिए सोनेकी हीरा-माणिक-जड़ी आरसी मंगवायी है। आप इसे कृपया अंगीकार करें, और इसमें मुख देखकर तिलक लगाया करें।"

"ना-ना भैया, इसको मैं रखूंगा कहाँ? हमारे तो छप्परेके घर हैं। कोई चोर आयेगा, तो हमें मार कर इसे ले जायगा। इसलिए यह प्राणलेवा वस्तु मुझको नहीं चाहिए।"

महाराजने सोचा—बात तो ठीक है। अब मैं इनको इतना धन दूं कि जन्म-भर बिना प्रयास घरपर बैठे-बैठे निर्वाह करते हुए प्रीतिपूर्वक भगवद्भजन किया करें।

---

१. आर्षंधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनु० १२.१०६)

२. स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन॥

इन विचारोंके साथ राजाने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे भरी थैली मँगवाकर भक्तके सम्मुख रखते हुए कहा : "संतप्रवर, इसे तो अवश्य अंगीकार कर मुझे उपकृत करें।"

कुंभनदासने हँसकर कहा : "राजन् ! आप इससे भी अधिक दे सकते हैं, किन्तु स्वर्ण-मुद्राओंका पर्वत भी मेरे लिए मिट्टीका ढेर है। अतः इसे आपको सप्रेम लौटाता हूँ।"

सुनकर राजाके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

फिर भक्त बोले : "राजन् ! मेरे खेतमें यथेष्ट उपजता है। मैं ऐसा अधम हूँ कि खेतमें पके अन्नकी मुट्टियोंसे अन्नके दाने चिड़ियोंको चुगने नहीं देता, उन्हें उड़ा देता हूं। वे बेचारी भूखी फर्र-फर्र उड़ जाती हैं मेरा भय पाकर। बोलो, मैं कितना बड़ा पाप कमाता हूँ ? तो भी दीनदयाल प्रभु उन्हीं मुट्टियोंसे इतना अन्न देते हैं कि अब पके अन्नको हम कबूतरों, चिड़ियों पक्षियोंको भर पेट खिलाते हैं, दान-पुण्य करने और वर्ष-भरतक उसीसे रोटी-बाटी खाते रहते हैं। फिर भी वह नहीं घटता, इसीसे मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

राजाने दान देनेकी दूसरी विधि सोची। नम्रतापूर्वक बोले : "त्यागी भक्तराज, आपके ग्राम जमुनावताको मैं आपकी जागीरमें लिखे देता हूँ कि जो आपके दसों पुत्र जन्म-भर पीढ़ी-दर पीढ़ी लाभ उठाते रहें। इस प्रार्थनाको तो आप अवश्य स्वीकार करें।"

"पुत्र अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार जीवनयापन करेंगे। कर्म तो प्रधान है ही

कर्म-प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करै, सो तस फल चाखा।।

मैं पुत्रोंकी चिन्ता अभीसे क्यों करूँ ? मुझे आपका ग्रामदान नहीं चाहिए, किसी भिक्षुकको दीजिये।"

महाराज मनमें विचार करने लगे कि ऐसा निःस्पृह तो आजतक देखनेमें नहीं आया; बल्कि राजाश्रय तो सभी चाहते हैं।' अब तीसरा यत्न करके देखना चाहिए। यह विचारकर महाराजने कुंभनदासजीसे अपना मोदी अर्थात् ऐसा दूकानदार बतानेकी प्रार्थना की, जिससे भक्तराज जब चाहें तब मनचाही यथेष्ट सामग्री लिया करें और उसका चुकारा मेरे द्वारा हुआ करे।

परमभक्त एवम् त्यागमूर्ति कुंभन बोले : "हमारा मोदी ऐसा है, जो बिना माँगे रात-दिन बहुत-सी पक्की-कच्ची सामग्री भेजता रहता है।"

राजाने बहुत ही अनुनय-विनय की, तब भक्त बोले : "देखो राजन् ! यह करीलका वृक्ष है। यह ग्रीष्मऋतुके हमारे मोदी हैं, जो फूल और टेंटी देते हैं। दूसरा मोदी यह झाड़ देखिये। यह हमें शीतकालमें खूब पके बेर-फल मन भरकर देता रहता है। यह प्रकृतिकी देन है।

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित यह अधम सरीरा ॥

सो, इन तत्त्वोंसे बना मानवशरीर तो अधम है ही, किन्तु इन्हींसे पले पेड़-पौधे अपने फल फूल-मूलसे अधम शरीरवाले मानवका हित-साधन किया करते हैं। सो इनके पास रहते मैं किसीसे किसी बातकी याचना क्यों करूँ ? अब आप समझ ही गये होंगे कि हमें किसी मोदीकी आवश्यकता नहीं, जो आपको बताया जा सके। आपका ऐसा भाव ही हमारे ऊपर कृपाका कारण है ?"

अबकी बार राजा मानसिंह बहुत ही उदास हुए। वे सच्चे मनसे चाहते थे कि ऐसे दीन भक्तकी मेरे द्वारा कुछ तो सेवा हो, जिससे अन्तःकरण सन्तोष पाये।" अतः बहुत ही दीन-हीनभावसे नम्रवाणीमें हाथ जोड़ मस्तक नवाते हुए वे बोले : "भक्तप्रवर, संसारमें आप जैसा सिद्धान्तका पक्का, परम संतोषी, दरिद्रताका हर्षपूर्वक आदर करनेवाला, निःस्पृह, त्यागी, भगवद्-आश्रयी, ध्यानी, भजनपरायण और रूखी-सूखी संतोषकी रोटीसे गुजर करनेवाला मैंने जहांतक मेरा भ्रमण हुआ है, कोई भी नहीं देखा। आपको हजार बार धन्यवाद है। परन्तु कृपानिधान भक्तराज, जब मैं आपकी सेवामें आया हूँ तो मुझसे कुछ भी तो सेवा लीजिये !"

भक्तराज कुंभनदासको अपनी बड़ाई सुनकर यह पश्चात्ताप हुआ कि 'मुझ तुच्छ जीवकी राजा सीमासे बाहर प्रशंसा कर रहा है।' किन्तु अपनी सुविधा और राजा मान-सिंहका मान रखने-हेतु वे मुस्कुराते हुए बोले : "अच्छा राजन्, आपने यहां पधारनेकी कृपा की, सो तो बहुत ही उत्तम कार्य किया। मैं माँगता हूँ सो देंगे ? यह भी मैं आपके बहुत ही आग्रहसे, केवल आपको हताश न करनेकी खातिर माँग रहा हूँ, इसे भलीभांति मनमें समझ लें।"

महाराजको भक्तराजके आशाभरे वाक्य सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। कुछ तो सेवा लेनेको भक्तराज राजी हुए। इसीसे मैं परम सन्तोषका अनुभव करूँगा, यह सोच उन्होंने हाथ जोड़ निवेदन किया : "हाँ संतजी, जो आपकी चाह हो, वही सेवामें सहर्ष बजाऊँगा। वह तो मेरा परम सौभाग्य होगा।"

महाराजको सेवा करनेमें इतना तत्पर देखकर भक्तराज कुंभनदासजीने कहा : "यदि सेवा करना चाहते हैं तो आजके बाद आप हमारे पास कभी न आयें और हमसे कुछ भी न कहें।" यह कहकर कुंभनदासजी पद गाने लगे :

परम भावते जियके मोहन, नैनन तें मति टरो...

इधर उदास महाराज अपने राज्य जयपुर आये, राज-काजमें लगे, पर इस घटनाको कभी नहीं भूले।

दार्शनिक समस्या समाधान

वेद या वेदान्तका चरम सिद्धान्त

श्री केशवदेव आचार्य

❀

'वेदान्त' शब्दका अर्थ है वेदका अन्त। अन्त शब्द यहाँ आन्तरतम या गूढ़-रहस्यके अर्थमें है। गीताने कहा है कि समस्त वेदोंका प्रतिपाद्य और ज्ञेय विषय एकमात्र परमात्मा है (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति)। परन्तु वेदोंमें परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंका यह वर्णन अलंकार और प्रतीकोंके भीतर छिपा हुआ है।

उदाहरणस्वरूप एक स्थानपर कहा गया है कि एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं जिनमेसे एक उसके स्वादुफलको खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है। दूसरा पक्षी अनीश होनेके कारण मोहवश शोक करता है, किन्तु जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यह सब उसके साथीकी महिमा है, तो वह शोकरहित हो जाता है। यहाँ वृक्षसे अभिप्रेत है प्रकृति और उससे बना यह सम्पूर्ण विश्व। गीताने इसे अश्वत्थ कहा है। दो पक्षियोंसे अभिप्रेत है जीवात्मा और परमात्मा। संसारके विषयभोगमें सुखका अनुभव करना शोकका कारण होता है। और उससे मुक्तिका कारण है, परमात्माको जानना। यह अनुभव करना कि जीव और जगत्-रूपमें जो कुछ भी है, सब उसीकी महिमाका विस्तार है।

इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि श्वेत, लाल और काले रंगवाली एक बकरी (अजा) है, जो अनेक प्रकारकी प्रजाकी सृष्टि करती है। एक बकरा (अज) उसके भोगमें लिप्त रहता है और दूसरा उसका भोग करके परित्याग कर देता है। यहाँ बकरी (अजा) शब्दसे अभिप्रेत है प्रकृति और बकरा (अज) शब्दसे अभिप्रेत है बद्ध और मुक्त जीव। प्रतीकों और अलंकारोंके लबादेके भीतरसे निकालकर उपनिषदोंने वेदके आन्तरिक गूढ अर्थको स्पष्ट और सरल भाषामें व्यक्त किया है जिसके कारण ही उन्हें वेदान्त कहा जाता है।

उपनिषदें अनेक और बहुविध हैं। व्यासजीने कुछ सूत्र-वचनोंके द्वारा उनकी

एकवाक्यता की है। अतः उन्हें वेदान्त-दर्शन कहा जाता है। भारतमें जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त प्रकट हुए हैं, उन सबका मूल उपनिषदें ही हैं।

वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त यह है कि इस सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका मूल है : **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म*** । इसे वेदने तो एकं, तत्, केवल कहा है। उसकी एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें मानो वह सोया हुआ-सा हो : **सुषुप्तमिव सर्वतः** । एक समय ऐसा आता है जब कि वह इस निद्रासे जागता-सा है और उसे स्वविषयक चेतना होती है और वह यह अनुभव करता है कि मैं अकेला ही हूँ और कुछ भी मेरे सिवा नहीं है। ऐसी चेतना आनेपर उसमें अपने आपको अनेक रूपोंमें सृष्ट करनेका संकल्प उदित होता है : **एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय** ।

× × ×

यहाँ मुख्य दार्शनिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्ममें यह संकल्प क्यों उत्पन्न होता है, वह अपने आपको बहुरूपोंमें क्यों सृष्ट करना चाहता है? जितनी भी दूसरी दार्शनिक समस्याएँ हैं, उन सबकी एकमात्र यही मूल समस्या है और सबका समाधान इसी एक समस्याके समाधानपर निर्भर करता है। सांख्य, योग और न्यायदर्शनोंने यह कहा है कि सृष्टिका उद्देश्य है जीवोंकी मुक्ति। यह समाधान तब कुछ-कुछ उपयुक्त हो सकता है, जब कि जीव और प्रकृति या जीव, ईश्वर या प्रकृति, ये दो या तीन मूलभूत स्वतंत्र तत्त्व हों। परन्तु इन्हें स्वतंत्र मूलभूत माननेपर इतनी भयंकर दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं कि उनका कोई संतोषजनक समाधान इन दर्शनोंकी ओरसे नहीं दिया जा सकता। अतः इन मतोंका परित्याग ही कर देना पड़ता है और अन्ततोगत्वा वेदान्तके अनुसार एक ही तत्त्वको विश्वका मूल कारण मानना पड़ता है। एक ही तत्त्वको विश्वका मूल कारण माननेपर जीवोंकी मुक्तिके लिए सृष्टि करनेका संकल्प ब्रह्ममें नहीं उठ सकता, क्योंकि जीव तो सृष्टिके हो जानेपर ही अस्तित्वमें आते हैं। जब सृष्टि नहीं और इसलिए जीव भी नहीं तो उनकी मुक्तिके लिए सृष्टि करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

कुछ दार्शनिकोंकी ओरसे इस विषयमें यह कहा जाता है कि सृष्टि तो वास्तवमें होती ही नहीं। वह तो अज्ञानी जीवोंको अज्ञानवश प्रतीत होती है। यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सृष्टि हो जायगी तभी तो जीव अस्तित्वमें आयेंगे। जब सृष्टि ही नहीं, और इसलिए जीव भी नहीं हैं, तो सृष्टिकी प्रतीति ही किसे और कैसे हो सकती है? सृष्टि होनेपर जीव हों और जीव होनेपर सृष्टि या सृष्टिकी प्रतीति हो, यह अन्योन्याश्रयता आ जाती है। इस कठिनाईसे बचनेके लिए यह समाधान दिया जाता है

---

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
—तैत्तिरीय ३.५। जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १.१.२)

कि सृष्टिकी प्रतीति जीवोंको नहीं, अपितु ब्रह्मको होती है। इस समाधानमें पहली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि ब्रह्म पूर्णतया निष्क्रिय है, अतः उसमें मिथ्याप्रतीतिरूप क्रिया संभव ही नहीं है। दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि मिथ्या-प्रतीति तब होगी, जब कि प्रतीतिके समयमें ज्ञाताका ज्ञान पूरी तरह अज्ञानके द्वारा आवृत हो जाता है और जिस वस्तुको वह अपने सामने देखता है, उसे सचाईके साथ यह मान लेता है कि वही सत्य है। इसके लिए ज्ञाताके ज्ञानको आवृत करनेवाली कोई उसकी अपेक्षा अधिक बलशाली शक्तिको मानना होता है। परन्तु ब्रह्म तो पूर्ण ज्ञानमय है और वही जब एकमात्र तत्त्व है तो उससे भिन्न दूसरी और उसकी अपेक्षा अधिक बलशाली अंधकारमयी शक्ति हो ही नहीं सकती, अतः उसे मिथ्या-प्रतीति भी नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषद् आदिमें जहाँ भी कहीं सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन आता है वहाँ ईक्षण, ज्ञान, ऋत, सत्य, विज्ञान आदि शब्दोंका ही उपयोग किया गया है, कहीं भी अनृत अज्ञानका नहीं। 'माया' शब्दका प्रयोग कहीं-कहीं मिलता अवश्य है, किन्तु वह वैदिक साहित्यमें भगवान्‌की अनन्त ज्ञानमयी दिव्यशक्तिके लिए आता है, अज्ञानमयी शक्तिके लिए नहीं। इस मायाको गीताने 'पराप्रकृति' कहा है। विज्ञानमय लोकसे नीचे, आनेपर जब उसके आनन्द, चेतना, सत्तारूप गुण सत्त्व, रज, तमका रूप धारण कर लेते हैं तब इसके अज्ञानका प्रवेश होता है। तब गीताकी भाषामें गुणमयी माया या 'अपरा प्रकृति' कही जाती है। नीचेके तीन लोकोंकी सृष्टिमें इसकी क्रिया मानी जा सकती है, ऊपरके चार लोकोंकी सृष्टिमें नहीं। अतः सृष्टिके मूलमें भी नहीं। अतः ब्रह्म अज्ञानवश विश्वकी सृष्टि करता है, इस सिद्धान्तको वेद या वेदान्तका चरम सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषदादिमें दो प्रकारके लोकोंका वर्णन आता है। उनमेंसे एक वे हैं, जिनमें अज्ञान-अंधकार भरा रहता है : **अन्धेन तमसावृताः**। दूसरे वे लोक हैं, जहाँ सदा ज्योति ही ज्योति रहती है : **यत्र ज्योतिरजस्रम्**। इन लोकोंको प्रकाशमय या ज्योतिर्मय लोक कहा गया है। इन लोकोंके निवासियोंको 'देवता' कहा गया है। इन्द्र, सरस्वती, यम आदि देवता जो कि मनुष्यको ब्रह्म-ज्ञानके देनेवाले हैं। ऐसे लोकोंके ही निवासी माने जाते हैं। उच्चकोटिके योगी और महर्षि ऐसे लोकोंमें जानेके लिए कठोर तप करते हैं। इन सब लोकोंको अज्ञान की सृष्टि और इनमें रहनेवालोंको अज्ञानी मानना वैदिक-सिद्धान्तके प्रतिकूल है। अतः सृष्टिकी यह व्याख्या वेदके अनुकूल नहीं कही जा सकती।

तब ब्रह्म सृष्टि क्यों करता है, इसका उत्तर वेदमें यह दिया गया है कि वह महान् है; अतः वह अपनी महिमाका विस्तार करनेके लिए सृष्टि करता है। अपनी अनन्त प्रज्ञाकी आश्चर्यमयी कुशलताको, रचनाके वैचित्र्यको प्रकट करनेके लिए सृष्टि करता है। महिमा शब्दमें महत्ता, वैभव, ऐश्वर्य, आश्चर्य, रचना कौशलका भाव वैदिककालमें था।

पीछेसे इसमें ऐश्वर्य-वैभवका भाव प्रधान हो गया और आश्चर्य, रचना-कौशलका भाव दब गया। उपनिषदोंने महिमा शब्दका प्रयोग ऐश्वर्यके अर्थमें किया गया है। गीताने विश्वको भगवान्‌का वैभव या विभूति कहा है।

व्यासजी ने महिमा शब्दकी वैदिक-भावनाके साथ क्रीड़ा और विनोदकी भावना-को मिलाकर सृष्टिका हेतु अपने ब्रह्मसूत्रमें लीला कहा है: **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (२.१.३३)। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार कोई राजा धन-धान्य आदि सुखकी सामग्रीसे तृप्त होते हुए भी एक विशेष प्रकारका आनन्द अनुभव करनेके लिए अपने बाल-बच्चोंके साथ क्रीडा किया करता है, अथवा जिस प्रकार कोई उच्च कोटिका योगी एक समय अपनी निर्विकल्प समाधिका आनन्द लेता है और दूसरे समय जनक, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, व्यास आदि के समान सक्रिय आनन्दका अनुभव करनेके लिए लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है, उसी प्रकार ब्रह्म आनन्दमय होनेके कारण किसी समय अपने निष्क्रिय एकत्वमय स्वरूपका आनन्द लेता है तो किसी समय अपनी बहुरूपताका आनन्द लेनेके लिए अपने आपको बहुरूपोंमें प्रकट कर देता है। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह एक होते हुए अनन्त भी है: **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**। वह निर्गुण होते हुए भी अनन्त गुणोंमें अपने आपको व्यक्त करनेकी शक्ति रखता है: **निर्गुणो गुणी, निर्गुणं गुण-भोक्तृ च**। निष्क्रिय होते हुए भी वह अनन्त प्रकारसे क्रिया करनेकी सामर्थ्य रखता है: **तदेजति, तन्नैजति**। वह स्वतंत्र है। हमें अपनी अल्पबुद्धिके डंडेसे ब्रह्मको यह कहनेका अधिकार नहीं कि तुम एक हो, अनन्त नहीं हो सकते; निर्गुण हो, सगुण नहीं हो सकते; निराकार हो, साकार नहीं हो सकते या निष्क्रिय हो, सक्रिय नहीं हो सकते। अतः जब उसकी इच्छा होती है तो वह अपने एकत्वमय और निष्क्रिय स्वरूपका आनन्द लेता है। जब उसकी इच्छा बहुत्वमय स्वरूपका आनन्द लेनेकी होती है, तो वह अपने आपको अनेक रूपों, गुणों, शक्तियों और क्रियाओंके रूपमें प्रकट कर देता है। ऐसा वह इसलिए नहीं करता कि उसमें कोई कमी है। वह तो पूर्ण है और जिसे वह सृष्ट करता है, वह भी पूर्ण ही रहता है। प्रत्युत ऐसा करना उसका स्वभाव है, उसकी लीला है। जिस प्रकार हमने ब्रह्मका लक्षण किया है सच्चिदानन्द। यदि हम इसके साथ-साथ 'लीलामय' शब्दको जोड़कर 'लीलामय सच्चिदानन्द' कहने लगें तो समस्या हल हो जाती है।

दर्शनशास्त्रकी दूसरी सबसे अधिक कठिन मूलभूत समस्याका यही सर्वोत्तम और चरम समाधान है, जो वेद और वेदान्तने बतलाया है।

●

समर-पूजा

श्री शिवनाथ दूबे

❀

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥ —मानस

'तुम श्रद्धापूर्वक अपने धर्मका पालन तो करते हो?'—अत्यन्त निष्पाप परम भगवद्भक्त कुण्डलपुर-नरेश महाराज सुरथ जो भी आता, उससे यही प्रश्न करते— 'शास्त्रके विपरीत आचरण तो नहीं करते? परधन और परदारामें प्रीति तो नहीं रखते? आसुरी सम्पत्तियोंसे बचकर सदा सत्संग एवं दयाधाम श्रीरामका नित्य स्मरण करते रहते हो न? तुम्हारा जीवन पुण्यमय है न? धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवाले अधम पुरुष तो मेरे राज्यकी सीमामें निवास ही नहीं कर सकते।'

सद्धर्म-परायण श्रीरामभक्त राजा सुरथके राज्यमें पापका कहीं नाम नहीं था। चोरी एवं व्यभिचारकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। सर्वत्र सत्संग, भजन एवं भगवान् श्रीरामका गुणगान होता रहता था। उनके राज्यमें क्षुधा-पिपासाका कष्ट किसीको नहीं था। दुःख, चिन्ता एवं क्लेशसे सभी सुरक्षित थे। यमदूतोंका प्रवेश भी सम्भव नहीं था। परम पुण्यात्मा राजा सुरथके राज्यमें सभी जीवन्मुक्त थे।

एकबारकी बात है। स्वयं यमराज साधुवेषमें उनकी परीक्षा लेने उनके पास पहुँचे। वहाँ सत्संगका वातावरण देखकर यमदेव चकित हो गये। उन्होंने सबके मस्तकपर तुलसीदल रखा देखा और सबको वार्तालापके मध्य भगवान् श्रीरामका नाम लेते सुना।

'आज मेरा जीवन सफल हो गया!'—एक पवित्र उच्चासनपर मुनिवेषधारी यमको बैठाकर उनका सविधि पूजनके उपरान्त हाथ जोड़कर राजाने कहा। 'सन्त-महात्माओंके दर्शन बड़े भाग्यसे मिलते हैं। अब आप कृपापूर्वक अपने मुखारविन्दसे त्रैलोक्यपावनी राम-कथा सुनाइये।'

'तुम किसकी कथा सुनानेके लिए कहते हो?'—बड़े जोरसे हँसते हुए मुनिवेषधारी यमदेवने कहा: 'कौन राम और कैसी कथा? इस व्यर्थकी बातसे क्या लाभ? विश्वमें कर्मकी प्रधानता है। सभीको अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। तुम भी सत्कर्म करो। इस कथामें क्या रखा है?'

'प्रभु-निन्दा पाप है।'—मुनिवेषधारी यमकी बात सुनकर राजा सुरथ अवसन्न हो गये। अत्यन्त क्षोभ एवं दुःखके साथ उन्होंने जटाजूटधारी मुनिसे कहा: 'आपके मुँहसे ऐसी बात शोभा नहीं देती। इन्द्रादि देवगण भी कर्मफल समाप्त होनेपर अपने

पदसे च्युत हो जाते हैं, पर दयामय श्रीरामका भजन करनेवाले भक्तका कभी पतन नहीं होता। प्रभु-निन्दक नरकगामी होते हैं। आप कृपापूर्वक ऐसी बातें न करें।'

'वर माँगो।'—राजाकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर भागवताचार्य यम अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। बोले : 'मैं तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।'

'भगवान् श्रीराम जबतक अवतार-ग्रहणकर मेरे यहाँ न पधारें, तबतक मेरी मृत्यु न हो।'

'तथास्तु !' यमदेव अन्तर्धान हो गये।

× × ×

'अवधनरेश महाराज श्रीरामके अश्वमेध-यज्ञका अश्व हमारे राज्यके समीप आ गया है।'—कुछ दूतोंने आकर राजा सुरथको सन्देश दिया : 'उसके मस्तकपर विजयपट्ट लगा है।'

'उस अश्वको पकड़ लो।'—राजा सुरथके नेत्र प्रेमाश्रुसे भर गये, उनकी वाणी अवरुद्ध-सी हो गयी। कितने दिनोंसे वे प्रभुके दर्शनकी आस लगाये प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभुके अवतार-ग्रहण करने, महामुनि विश्वामित्रके साथ जाकर उनके यज्ञकी रक्षा करके, जनकपुरमें भगवान् शंकरका धनुष तोड़कर जानकीसे विवाह करने, फिर पिताकी आज्ञासे चौदह वर्षके लिए पत्नी एवं अनुज लक्ष्मणसहित वनमें जाकर ऋषि-मुनियोंका कल्याण करने तथा राक्षसाधिप रावणका वधकर अयोध्या लौटने आदिका संवाद सुन-सुनकर वे मन-ही-मन पुलकित और प्रभु-दर्शनके लिए अधीर हो रहे थे। अब वह पवित्र वेला अत्यन्त समीप आ गयी, यह सोचकर वे आनन्द-विह्वल हो गये। उनके सुखकी सीमा नहीं थी, पर उन्हें एक-एक पल वर्षकी तरह दूभर प्रतीत हो रहा था।

'आपका कहना सर्वथा सत्य है।'—शत्रुघ्नजीके भेजे गये दूतसे राजा सुरथने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया : 'उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं। महाराज श्रीरामकी समर्थ विशाल-वाहिनीकी तुलनामें मैं सर्वथा नगण्य हूँ, पर आप देख लें कि मैं अपने दसों पुत्रोंसहित ससैन्य डट गया हूँ। भगवान् श्रीराम मेरे परमाराध्य एवं प्राणधन हैं। मैं तन-मनसे उन्हींका हूँ। वे दयामय यहाँ स्वयं पधारकर मुझे दर्शन देनेका अनुग्रह करें तब तो ठीक है, अन्यथा मैं धर्मयुद्धसे एक पग भी पीछे नहीं हटूँगा। इतना ही नहीं, मैं उन्हीं अपने परम प्रभुकी कृपा एवं शक्तिके भरोसे आप लोगोंको विजयी भी नहीं होने दूँगा। अपने अन्तर्यामी जीवन-सर्वस्वके सहारे मेरा दृढ़ विश्वास है कि विजयश्री मुझे ही वरण करेगी।'

और यही हुआ भी। भयानक संग्राममें राजा सुरथने रामास्त्रका प्रयोगकर हनुमान् और अङ्गदादि वीर योद्धाओंसहित शत्रुघ्नजीको भी बन्दी बना लिया।

'आप प्रभु श्रीरामका ध्यान करें।'—अत्यन्त प्रेमपूर्वक विनीत स्वरमें राजा सुरथने

हनुमान्‌जीसे कहा : 'तो प्रभु निश्चय ही यहाँ पधारकर मेरा जीवन और जन्म सफल करेंगे एवं आप लोगोंको मुक्त कर देंगे।'

पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌ने प्रभु श्रीरामका ध्यान किया ही था कि आकाशमें तीव्रतम गतिसे उड़ता हुआ पुष्पक विमान दीखा। कुछ ही देरमें ऋषि-मुनियोंके साथ भरत और लक्ष्मणसहित धनुर्बाणधारी नवनीरदवर्ण श्रीरामके दर्शन हुए।

'आपकी जय हो।'—राजा सुरथ प्रेमोन्मत्त हो गये। वाणी अवरुद्ध थी। उनसे बोला नहीं जा रहा था। वे धरतीपर दण्डकी भाँति लेट गये और देव-दुर्लभ प्रभुके पद-पद्मोंको अपने नेत्रोंके जल पखारते हुए केवल इतना ही कह सके : 'मेरे स्वामीकी जय हो!' हिचकी बँध जानेसे वे चेष्टा करनेपर भी और कुछ नहीं बोल सके।

'मेरा अपराध क्षमा हो करुणामय!'—कुछ स्वस्थ होते ही हाथ जोड़कर सुरथने प्रभुके नीलकलेवरकी ओर अपलक निहारते हुए कहा : 'अब मेरा तन, मन, प्राण, जन्म, और मनुष्य-जीवन सब सफल हो गया।'

'राजन्!'—प्रभुने अमृतमयी वाणीमें राजा सुरथको आश्वस्त किया : 'तुम मेरे परम प्रिय भक्त हो। तुमने क्षत्रिय-धर्मका पालन किया है। निश्चय ही तुम धर्मप्राण वीरपुरुष हो। मैं तुम्हारी इस 'समर-पूजा'से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ।'

प्रभुकी कृपादृष्टिसे बन्धनमुक्त तो सभी पहले ही हो गये थे, उनके घाव भी भर गये और सभी स्वस्थ एवं सुखी हो गये।

× × ×

भक्त-पराधीन प्रभुने राजा सुरथके आग्रहसे उनके यहाँ चार दिनोंतक निवास किया। राजा सुरथने प्राणपणसे सभी परिकरोंसहित श्रीराघवेन्द्रकी सेवा की। जब मुनियोंसहित प्रभु अयोध्या पधारे, तो राजा सुरथ अपने पुत्र चंपकको राज्य देकर सेनासहित प्रभुके यज्ञके अश्वकी रक्षाके लिए शत्रुघ्नजीके साथ चले गये। उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीरामकी सेवामें व्यतीत किया और अन्तमें प्रभुके पवित्रतम साकेत-लोकमें पहुँच गये।

●

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥

भक्त कहता है : यशोदा मैया! किन शब्दोंमें हम आपके भाग्यकी प्रशंसा करें। अकेली आपने जाने कितने पुण्यक्षेत्रोंमें जा-जाकर किन-किन विधि-विधानोंसे क्या-क्या पुण्य किये? मैया, जिसके कृपाकटाक्षको इन्द्र, ब्रह्मा तथा शंकरमेंसे कोई नहीं पा सका, वही पूर्ण ब्रह्म (श्रीकृष्ण) आपकी गोद चढ़नेके लिए रोता हुआ पृथ्वीपर लोट रहा है।

श्रीकृष्ण-सन्देश शाश्वत और अनन्त

श्री गिरीशचन्द्र गुरुरानी 'शास्त्री'

❀

भगवान् श्रीकृष्णके सदृश उनका सन्देश भी शाश्वत एवं अनन्त हैं। उसमें भगवत्ताके सकल गुणोंका समावेश है। नीचेकी पङ्क्तियोंमें कुछ दृष्टान्तों द्वारा इसका प्रतिपादन किया जाता है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते : गीतामें भगवान्‌की घोषणा है कि 'जो मुझे जिस रूपसे भजता है, मैं भी उसको उसी रूपसे भजता हूँ।' अध्यात्म-रामायण तथा रामचरित-मानसमें भी इस मतकी पुष्टि की गयी है :

भजतोऽनुभजाम्यहम्। जिन्हकें रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी॥

उपर्युक्त वचनोंके अनुसार समस्त मानवोंको अपनी भावना द्वारा भगवान्‌को सखा, विराट् तथा कालादि रूपोंसे परिलक्षित करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्णके समस्त उपदेश-वाङ्मयसे एकमात्र गीताको लें, तो उसका भी पार पाना कठिन है। गीताके अन्तर्गत यद्यपि सात सौ ही श्लोक हैं, परन्तु उनपर सहस्राधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। सम्भवतः विश्वके अन्य किसी ग्रन्थकी ओर प्रबुद्ध समाज इतना आकर्षित नहीं हुआ है।

श्रीमत् शंकराचार्य ज्ञानियोंमें अग्रगण्य थे। बिना किसी हिंसाके तर्कबलसे उन्होंने अपने जीवनकी अल्प-अवधिमें ही बौद्ध-धर्मको, जो कभी राज-धर्म भी रह चुका था, उत्तरमें हिमालयसे ऊपर और दक्षिणमें कुमारी-अन्तरीपसे नीचे ढकेल दिया। इतने महान् व्यक्तिने गीतापर भाष्य लिखनेमें गौरव समझा, जो 'शांकर-भाष्य'के नामसे प्रसिद्ध है। उन्हें गीताकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही जान पड़ी।

श्रीमत् रामानुजाचार्यने अपने जीवनकी दीर्घ-अवधितक भक्तिकी सरिता प्रवाहित की। उनके 'रामानुजीय-भाष्य'में भक्तियोगको ही प्रधानता दी गयी है।

संत ज्ञानेश्वर जन्मसिद्ध योगी थे। उन्हें अपने योग-मार्गकी पुष्टिमें गीताकी 'ज्ञानेश्वरी' टीका करनी पड़ी। अन्य—लोकमान्य तिलक, बापू जी और आचार्य विनोबा भावेजीने गीतामें क्रमशः कर्म, अनासक्ति-योग तथा सर्वोदयके दर्शनकर तत्तद्विषयक टीकाएँ लिखी हैं। पुनश्च मूलग्रन्थका अवलोकन करनेपर सम्पूर्ण टीकाओंके अध्ययनके बाद भी कई नवीन भाव मिलते हैं। नीचे गीताके एक श्लोकको भावाञ्जलि देकर लेखको विराम दिया जाता है :

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ (११.४५)

●

रामभक्त शंकर और शंकरभक्त तुलसी

डॉ॰ श्री जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल

❋

बालकाण्डके मंगलाचरणमें तुलसीदासजी वन्दना करते हैं :

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

अर्थात् 'ज्ञानमय, नित्य, शंकररूपधारी गुरुकी मैं वन्दना करता हूँ, जिनके आश्रित होनेपर ही टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित हो जाता है।'

बिना गुरुके अध्यात्मक्षेत्रमें सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। आत्मसाक्षात्कारके लिए भी कामारि शिवकी उपासना अत्यन्त आवश्यक है। बालकाण्डके मंगलाचरणमें गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं कि 'कोई कितनी भी सिद्धि प्राप्त कर ले, किन्तु भवानी और शंकरकी कृपाके बिना वह अन्तःकरणस्थित ईश्वरको नहीं देख सकता।' भवानी और शंकर तो श्रद्धा और विश्वासके रूप हैं, अतः भक्तशिरोमणि उनकी वन्दना करते हुए कहते हैं :

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

मदन-मर्दन श्री शिवजी दीनोंपर बड़े दयालु हैं। अतः दीन भक्त सदैव उनसे कृपाकी आकांक्षा किया करता है :

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन-मयन॥

अर्थात् 'हे कुन्दके पुष्प और चन्द्रमाके समान गौर शरीरवाले पार्वतीरमण भगवान्! आप तो दयाके धाम हैं, आपका दीनोंपर विशेष स्नेह है और मैं अत्यन्त दीन हूँ। अतः कामदेवका मर्दन करनेवाले प्रभो! मुझपर कृपा करें।'

भगवान् शंकर तो भोलेबाबा हैं। अपावनको भी पावन करनेवाले हैं। श्मशानकी अपवित्र राख भी महादेवजीके अंगके संगसे सुहावनी लगती है और स्मरण करते ही पवित्र करनेवाली होती है :

भव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी।

भगवान् महेश गोस्वामीजीके इष्टदेव भगवान् रामके सेवक, स्वामी और सखा हैं। इतना ही नहीं, वे तो उसके प्रति सच्चा वात्सल्यभाव रखते हैं। अतः तुलसी उन्हें गुरु, माता-पिता एवं अपना संरक्षक सब कुछ मानते हैं। भगवान् शंकर औढरदानी हैं, दीनबन्धु और नित्य दानशील हैं :

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनवंधु दिनदानी।
सेवक स्वामि सखा सिय पीके। हित निरुपधि सब विधि तुलसीके॥

ऐसे गिरिजापति शाबर-मन्त्रके रचयिता हैं। इन मन्त्रोंका उच्चारण एवं अर्थ विलष्ट होते हुए भी प्रभाव स्पष्ट है। ये श्री शिवजीके प्रतापसे अमोघ हैं:

कलि विलोकि जग हित हर गिरिजा। सावर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥

ऐसे शिवजीकी कृपाका आकाङ्क्षी तुलसीदास है, क्योंकि वह रामकथाकी रचना भी करे, किन्तु विना शिवजीकी कृपाके वह मङ्गलमूल एवं प्रभावशाली नहीं बन सकती। अतः वह उन दोनोंका स्मरणकर और उनका प्रसाद पाकर ही रामचरितमानसका वर्णन करता है:

सो उमेस मोहिपर अनुकूला। करिहिं कथा मुदमंगल मूला।
सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चितचाऊ॥

और शिवजीकी कृपासे ही तुलसीदासकी वाणी सुशोभित होगी; जैसे तारागणोंके सहित चन्द्रमाके साथ रात्रि शोभित होती है:

भनिति मोरि सिव कृपाँ विभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥

कवि पुनः कहता है कि मैंने अपने रामचरितमानसका व्यापक प्रभाव वर्णित किया है। किन्तु यह तभी सिद्ध समझिये, जब उमा-महेशकी कृपा एवं प्रसन्नता हो। यह प्रसन्नता गोचर कैसे हो, तो कवि कहता है कि स्वप्नमें भी सचमुच प्रसन्न हो:

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जों कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

स्वामी श्री अच्युतानन्दतीर्थका कहना है कि वेदोंकी भाँति तुलसीदासजीकी रामायण भी अपौरुषेय है। यह भगवान् शंकरकी रचना है जिसका मानस साक्षात्कार करके द्रष्टा कविशिरोमणि तुलसीदासने लिखित रूप प्रस्तुत किया। स्वयं गोस्वामीजी उत्तरकाण्डके उपसंहारके एक श्लोकमें इसी तथ्यको प्रकट करते हैं:

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकृतिना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

अर्थात् श्रेष्ठ सुकृति भगवान् शंकरजीने जिस दुर्गम मानस-रामायणकी, श्रीरामजीके चरणकमलोंमें नित्य-निरन्तर अनन्यभक्ति प्राप्त होनेके लिए रचना की थी, उस मानस-रामायणको श्रीरघुनाथजीके नाममें निरत मानकर अपने अन्तःकरणके अन्ध-

कारको मिटानेके लिए तुलसीदासने इस मानसके रूपमें भाषाबद्ध किया। वस्तुतः इसके मूललेखक तो भगवान् शंकर हैं। अतः यह महान् ग्रन्थ अपौरुषेय है।

गोस्वामी तुलसीदासजी की उमा-महेश्वरके प्रति जो भक्ति है, उसका वर्णन पग-पगपर उनकी प्रायः सभी रचनाओंमें मिलता है। रामचरितमानस तो फिर श्री महेश-ने रचकर अपने मानसमें गुप्त करके रखा; इसीलिए इस रामचरितका 'रामचरितमानस' नाम सार्थक हुआ।

भगवान् शंकरका तुलसीदासके इष्टदेवमें अनन्य भक्तिभाव है। श्रीरामनामको महामन्त्र मानकर वे निरन्तर जपते रहते हैं। उसीके बलपर तो काशीमें मरनेवालेको मुक्ति करनेकी उनमें सामर्थ्य है :

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति-हेतु उपदेसू॥

केवल स्वयं शंकर ही नहीं, उनकी प्रिया पार्वतीजी भी सदा पतिके साथ राम-नामका जप करती रहती हैं :

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं प्रिय संग भवानी॥

शिवजी एक राम-नामको भगवान्के सहस्रनामके समान मानते हैं। पार्वतीजी भी इसको जपती हैं। अपने इष्टदेवके चरणोंमें उनकी प्रीति लक्षित करके ही भगवान् शंकरने उन्हें अपना भूषण बनाकर अर्धाङ्गमें धारण किया। अर्धाङ्ग होनेकी योग्यता तो धार्मिक कार्योंमें सहचर बनकर ही प्राप्त हो सकती है। शिवजी स्वयं कालकूट पीकर भी अमृत-का-सा फल प्राप्त कर सके, यह सब उनके इष्टदेव रामके नामके जपका प्रभाव है :

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को।
नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

तुलसीदासजी अपने इष्टदेवके नामका प्रभाव भगवान् शंकरपर बार-बार दिखलाते हैं :

नाम प्रसाद संभु अविनासी। साजु अमंगल मंगलरासी॥

श्री महेश भी रामचरित-गानमें लवलीन हैं। उन्होंने रामचरितको काव्यरूप दिया और अपनी प्रिया पार्वतीजीको सुनाया। उन्हींसे रामचरितकी यह परम्परा चली। वे इसके मूलकर्ता हैं :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगत अधिकारी चीन्हा॥

इस प्रकार गोस्वामीजी यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि बिना शिवजीकी कृपाके कोई रामभक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। जिसको भी यह मिली है, वह उन्हींके

प्रसादसे। इसीलिए (शिवजीसे प्राप्त) रामकथा का वर्णन करनेके पूर्व भक्तवर शिवजीको सिर नवाते हैं—

सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद रामगुन-गाथा॥

कथाका वर्णन करते हुए सज्जन श्रोताओंको इसका उद्गम बताते हुए गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं कि श्री शिवजीकी कृपासे उनके हृदयमें सुन्दर बुद्धिका विकास हुआ, जिससे वे श्री रामचरितमानसके कवि हुए :

संभु प्रसाद सुमति हियँ तुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥

भगवान् शंकरने रामनामके अमित प्रभावको भलीभाँति जान लिया है। वे ज्ञानकी राशि, कल्याणकारी स्वयं भगवान् बन गये हैं—

संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ग्यान-गुन-रासी॥

इसीलिए तो तुलसीदास बार-बार राम-नामके प्रभावको बतलानेके लिए प्रमाण स्वरूप शिवचरितका गान करते हैं। काशीमें मरनेवाले चारों जातिके जीव परमपदको प्राप्त होते है। कैसे ? क्योंकि शिवजी महाराज अत्यन्त दया करके उन्हें रामनामका उपदेश करते हैं :

सिव उपदेश करत करि दाया।

रामकथाका प्रारम्भ भी तुलसीदास सती-मोह प्रसंगसे करते हैं। शिवजी परम सुजान हैं, अतः 'रघुपति-चरित'के जानकार हैं।

अति विचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान।

वे भगवान्‌को मनुष्यशरीरमें भी भलीभाँति जानते-पहचानते हैं। एक क्षणको भी उन्हें शंका नहीं होती। उनकी अविचल भक्ति है। भगवान् रामको विरह-विकल वनमें मनुष्य-लीला करते देखकर वे उनको प्रणाम करते हैं :

जय सच्चिदानन्द जग-पावन। अस कहि चलेउ मनोजनसावन॥

किन्तु सती-शरीरमें पार्वतीको पूर्ण ज्ञान एवं रामपदमें अविचल भक्ति नहीं हो पायी थी। वे शंका करते हुए कहने लगी।

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

इसीके फलस्वरूप उन्होंने श्रीरामकी परीक्षा ली और शंकरजीने उनका परित्याग कर दिया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया दिया कि अब इस शरीरसे मिलन नहीं होगा। इसी-लिए सतीको प्रजापति दक्षके यज्ञमें शरीर छोड़कर पुनः पार्वतीके रूपमें अवतरित होना पड़ा। यह है शंकरकी रामके प्रति अनन्यभक्ति। अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यभक्ति रखने-वाले भगवान् शंकरके प्रति तुलसीकी अनन्यभक्ति सहज-सम्भाव्य है। ●

तान्त्रिक-दृष्टिमें ऋषिभाव

ऋषि : मन्त्रद्रष्टा

श्री एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी

❀

क्रान्तदर्शी 'ऋषि' कहलाता है। परोक्ष वस्तु अथवा पारलौकिक ज्ञानीको ऋषिपदसे सम्बोधित किया जाता है। मुनि, साधु, स्वामी, ऋषि आदि शब्द साधारणतया विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रकृतिके जयका द्योतक 'स्वामी' शब्द है और निरन्तर प्रातिभ स्वरूपका चिन्तन करनेवाला 'मुनि' है। सच्चरित्रवान्, समस्त इन्द्रियोंके विकार-भावको हटानेवाले व्यक्तिको 'साधु' पदसे सम्बोधित किया जाता है। इन सब शब्दोंमें 'ऋषि'शब्द अत्यन्त महत्त्वका है। मन्त्रका साक्षात्कार 'ऋषि' ही कर सकते हैं। जो मन्त्रको देखनेवाले हैं, वे ही 'ऋषि' हैं। 'दृश्' धातुका अर्थ है, देखना। ऋषियों द्वारा सुना नहीं जाता, अपितु देखा जाता है। साधारण अवस्थामें साधक अथवा प्रत्येक व्यक्ति मन्त्रको सुनता है। गुरु द्वारा मन्त्रका श्रवण और उच्चारण भी किया जाता है। ये सब उपाय हैं, पर वस्तुतः जो मन्त्र उपेय है, उसे न देखा जाता है, और न सुना जाता है। अर्थात् 'वाक्' केवल व्यवहार-अवस्थामें सुनी जाती है, किन्तु इस प्रकारकी 'वाक्' सर्वेन्द्रिय-गोचर नहीं है।

'परा वाक्' इससे नितान्त भिन्न है। महाशक्तिकी अभिव्यक्त अवस्थाका यह प्रथम रूप है। यह सिद्धिपद लाभ करनेवाले व्यक्तिके सामने दिखाई देती है। इसके आगेवाले स्तर 'पश्यन्ती' वाक्को ऋषि देखते हैं। इस प्रकार मन्त्रके द्रष्टाको 'ऋषि' कहते हैं।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार प्रकारकी वाक् हैं। 'परा वाक्' साक्षात् स्वयं महाशक्ति है। इसमें निन्तर 'नाद' प्रवाहित होता है। यह 'नाद' आत्मस्वरूपकी निरन्तर सृष्टिका स्फुरण करनेवाली संकल्पशक्ति है। 'संकल्पशक्ति' तन्त्रमें इच्छाशक्ति कही जाती है। 'वाचो ह जज्ञिरे' यह मन्त्र इसी तात्पर्यसे वेदमें कहा गया है। सामान्यतया नादसे पूरित निरन्तर स्पन्दित करनेवाली शक्ति 'परा वाक्' कहलाती है। इसमें अनन्त कलाएं है। 'परा वाक्'-अवस्थामें समग्र सृष्टि अभिन्नरूपमें अपनेमें विद्यमान है। इस नादमें बहिःस्फुरणात्मक स्पन्द, जो बिन्दुरूप है, एक, दो और अनन्त बिन्दु बन जाते हैं। यह 'बिन्दुशक्ति' धारावाहिक स्फुरणके लिए चलते ही नादकी अवस्था प्राप्त करती है।

इनमें सूक्ष्मकलन है। इनमें प्रत्यावर्तन धर्म नहीं है। इस अवस्थामें देवता मन्त्र-तनु होते हैं। इनकी स्वरूपशक्ति और ऋषिकी स्वरूपशक्ति एक रहती है। इस समय 'किं केन पश्येत्' यह अवस्था है। 'परा वाक्'-अवस्थामें सब कुछ एकाकारेण आत्मस्वरूपमें सूक्ष्म प्रत्यवमर्श की स्थितिमें रहता है।

इस दशामें देवताका आकार और मन्त्र दोनों वाच्य-वाच्यक रूपसे रहते हैं। उस समय आत्मगत स्वरूप-'संवित्' सामने रहती है। वस्तुतः 'परा संवित्' और स्वसंवित्' एक हैं। इनमें 'नाद-परामर्श' मन्त्रदेवता कहलाता है।

इस अवस्थामें कालातीत और कालके केन्द्रमें ऋषिकी संवित् क्रिया करती रहती है। इसमें अपनेमें प्रातिभ ज्ञानके कारण इन्द्रियरहित अवस्थामें ही देखना, सुनना आदि सब कुछ सम्भव हो जाता है। यह इन्द्रियगोचर न होकर इन्द्रियातीत प्रातिभज्ञानगोचर होता है। इस अवस्थामें मन्त्रके छन्द आदिका ज्ञान होता है। सामान्यतया देवताकी उपासना-पद्धतिमें देखा जाता है कि मन्त्रके साथ ऋषि, देवता और छन्दका उल्लेख रहता है। जिस ऋषिने उस मन्त्रका साक्षात्कार किया है, उस मन्त्रमें उसीका नाम रहता है। प्रायः किन्हीं-किन्हीं मन्त्रोंके देवता और ऋषि एक ही होते हैं। जब कोई सिद्ध देवताके आविर्भावके साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करता है; तब वह देवताको भी ऋषिपदसे अभिव्यक्त करता है। जैसे कई मन्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंको ऋषि कहा गया है। आत्मनिष्ठ शक्ति और देवताशक्तिको लेकर ही यह भेद दृष्टिगोचर होता है। मननको देखनेवाले ऋषिको उसी अवस्थामें मातृकाशक्ति-साक्षात्कार भी होता है। 'परावाक्'से 'पश्यन्ती' वाक्में इस स्वरूपका स्पष्ट ज्ञान होता है। इसमें ऋषि मन्त्रको देखता है, अतएव इसको 'पश्यन्ती' कहते हैं।

कला, तत्त्व और भुवनका क्रमशः वर्ण, मन्त्र और पदके साथ सम्बन्ध है। कला और वर्णके वाच्य-वाचकसम्बन्धसे मन्त्रोंकी रचना होती है। स्पन्दशक्ति कलाके साथ वर्णशक्ति बनती है। इन वर्णोंको सामान्य वर्णमाला नहीं समझना चाहिए। गणितमें जिस प्रकार व्यवहारके लिए संकेतोंका उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार विज्ञानका भी इन्हीं ऋषियोंने विश्लेषण किया है : भाषामें वर्णमाला 'वैखरी' स्वरूपकी होती है। हम भावको अभिव्यक्त करनेके लिए भाषाका उपयोग करते हैं। किन्तु मन्त्रशास्त्रमें इनकी एकता (unity) को अर्थात् कलाशक्तिके समग्र रूपको सुविधाके लिए पचास भागोंमें विभाजित कर लेते हैं। वर्णमालामें कलाशक्ति अवश्य अन्तर्भूत है। इनके साथ नादशक्ति, विन्दुशक्ति और कलाशक्तिका मिलन होता है। पचास मातृकाओंमें पचास शक्तियाँ निहित हैं। इनमें वर्गशक्ति और व्यक्तिगत शक्ति भी है। यथा 'क' यह वर्गशक्ति है और 'क' स्वतन्त्र शक्ति भी। मातृकाओंमें श्वेत-हरितादि सप्त वर्ण हैं। इनके मिलनसे इधर देवताओंके आकारका निर्माण होता है, तो उधर मन्त्रका स्फुरण होता है। इस आकारकी आत्मा 'मन्त्र' है; अतएव देवता 'मन्त्रात्मा' कहा गया है। ऋषि

मातृकाओंका विज्ञान जानता है। इसके शक्तिको अपनी आत्मानूभूति-द्वारा वह आत्मसात् करता है, तब वर्णोंमें आकाररूपी देह और मन्त्ररूपी आत्मा दोनोंका स्वरूप ऋषिको दिखाई देता है। इस प्रकार ऋषिका स्वरूप अवश्य ही 'क्रान्तदर्शी' है। जो साधक गुरु-परम्परासे मन्त्रद्वारा देवताका साक्षात्कार करते हैं; वे परम्परासे 'ऋषि' कहलानेपर भी परावाक-अवस्था तक क्रान्तदर्शी नहीं हो सकते। मन्त्र द्वारा देवताका साक्षात्कार करनेवाले भले ही 'सिद्ध' पुरुष हों, वे ऋषि नहीं कहे जा सकते। ऋषि वे ही हैं, जो मूल मातृका-शक्तियोंका अपनेमें परस्पर मिलन और देवताके साक्षात्कारके साथ-साथ मन्त्रका निर्गमन देखते हैं। साधक अथवा सिद्ध ऋषि नहीं हो सकते। साधक 'वैखरी' भूमिमें रहकर मन्त्रका जप करते हुए 'मध्यमा'में जाकर पश्यन्ती-दशाका लाभ करते हैं, जबकि परावाक्का साक्षात्कार करनेके पश्चात् पश्यन्ती-अवस्थामें मन्त्रको देखकर उसे मध्यमा-अवस्थामें उतारते हैं और उसको वैखरीमें लाकर जगत्-कल्याणके लिए उपदेश देते हैं। इनका साक्षात्कार अवरोहण-प्रक्रियाके अन्तर्गत है।

अन्य ज्ञान-विज्ञानका साक्षात्कार भी 'ऋषि' करते हैं। इनमें निर्माणशक्ति रहती है। इनमें प्रत्येक पद और प्रत्येक वर्ण शक्तिसम्पन्न और सक्रिय होते हैं। इनको जाननेके लिए ऋषिकी बुद्धि, मन और इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि ये अपनेको प्रतिभा-ज्ञान-दृष्टिका आलम्बन बनाते हैं। ऋषियोंमें समग्र स्वरूपको एक क्षणमें समझनेकी सामर्थ्य होती है। यही मन्त्रद्रष्टा भाव कहा जाता है। अतएव 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' यह कथन यथार्थ है।

•

चेतन से !

चेतन, अब भी तो कुछ चेत !
अमित शक्तिको धारण कर तू खान गुणोंकी भीतर भर तू।
अपनेसे है हुआ अचेत चेतन अब भी तो कुछ चेत॥
धनमें स्त्रीमें सार धरा क्या सिवा पापके यहाँ भरा क्या ?
क्यों फिर सिरपर झंझट लेत चेतन अब भी तो कुछ चेत॥
बड़े भागसे वर तन पाया पुण्योदय उत्तम कुल पाया।
कोई जीवन खोना सेत चेतन अब भी तो कुछ चेत॥
शिव-साधनमें शक्ति लगाकर आत्मज्ञान की ज्योति जलाकर।
हो जाओ अब पूर्ण सचेत चेतन अब भी तो कुछ चेत॥
समय चूककर क्या पाओगे कर मलमल कर पछताओगे।
चुग जायेगा पंछी खेत चेतन अब भी तो कुछ चेत॥

—श्री नेमचन्द्र जैन

श्रीराधाष्टक

(१)

श्री राधाके पद - कमल, हैं सास्वत सुख - खान।
अरे मधुप! इनमें लिपट, कर मधुमय रस - पान॥

(२)

जिन चरनन के ध्यानतें, जोगी भये अकाम।
उन चरननको ध्यान धर, बनै जगतको काम॥

(३)

राधा-राधा रटत ही, बाधा होत विलीन।
तन, मनको यों सुख मिले, ज्यों अगाध जल मीन॥

(४)

राधानाम अनंत हैं, महिमा तदपि अनन्त।
नेति-नेति आगम कहें, पार न पावें सन्त॥

(५)

श्री वृषभानु - किसोरिकै, पद - अरविंद महान।
सदा प्रफुल्लित निरखकें, नियमित निकसत भान॥

(६)

श्री राधा - मुख - चन्द्रमा, हरत निसा - तम - तोम।
ज्योति अंसु ले मातुतें, विरचत है शशि व्योम॥

(७)

श्रीं राधापद सीस धर, धरें सेस भू - भार।
जाकी कृपा - कटाक्ष तें, चलत जगत व्योपार॥

(८)

मोहन मन अधिवासिनी, जाचक आयो द्वार।
भिक्षा दै माँ देस कौ, हो नूतन उद्धार॥

श्री जगदीश शरण बिलगइयाँ 'मधु'

कोउ न रामसम जान जथारथ

श्री सुनहरीलाल शर्मा, बी० ए० साहित्यरत्न

※

लक्ष्मणजी शक्तिसे मूर्छित पड़े थे। भगवान् राम भाई लक्ष्मणके लिए विलाप कर रहे थे। सोचिए भगवान् यह सब लक्ष्मणके लिए क्यों कर रहे हैं ?

मेरो सबु पुरुषारथ थाको !
विपति बटावन बन्धु बाहु बिनु करौं भरोसो काको।
ह्वैहै कहा बिभीषणकी गति, रही सोचभरि छाती॥

लक्ष्मणजीके जीवित न होनेसे मैं अब जी नहीं सकता, क्योंकि विभीषणको अब कौन आश्रय देगा ? आश्रितके लिए अपने तथा परिवारसे अधिक चिन्ता करना यही तो प्रीतिकी रीतिका यथार्थ जानना है। भगवान् रामको केवल एक ही बातकी चिन्ता थी :

तातको सोचु न, मातुको सोचु न,
नहि सोचु पिता सुरधाम गयेको॥
भाई भरतकोहू सोचु नहीं,
नहि सोचु अयोध्याके राजु गयेको॥
सीय हरेकोहू सोचु नहीं,
नहि सोचु जटायुके प्रान गयेको॥
एकहि सोचु सों सोचु भयो,
मोहि सोचु बिभीषण बाह गहेको॥

भगवान् राम दण्डकारण्यके ऋषियोंको छोड़कर शबरीका प्रेम-प्रण निबाहनेके लिए उसके यहाँ गये। शबरी और प्रभु का यह प्रेम देखकर ऋषिगण अपनी निस्सार साधना को धिक्कार रहे थे। प्रभु-प्रेमकी दीवानी शबरीकी उन्होंने न जाने कितनी उपेक्षा और अवहेलना की है। उसकी छायातकको अपने पास नहीं फटकने दिया। भगवान् आज उसीकी कुटियामें अपनी चरणरज बिखेरने जा रहे हैं। सम्पूर्ण ऋषियोंका अहंकार आज चूर हो गया। आजके लिए ही तो वह इतनी लम्बी प्रतीक्षा करती आ रही है। कितनी

कठिन है यह अनवरत साधना ! दिनपर दिन और मासपर मास व्यतीत होते चले जाते हैं, परन्तु यहाँ हताश होनेका नाम नहीं; क्योंकि क्या पता, प्रियतम कब आ जावें। प्रेमीको इसी प्रतीक्षामें आनन्द मिलता है। तभी तो वह हँस-हँसकर कहा करता है :

वस्लमें हिज्रका गम और हिज्रमें मिलने की खुशी।
कौन कहता है कि जुदाईसे वस्ल अच्छा है॥

हाँ, तो शबरीके हर्षका आज पारावार नहीं है। अचानक भगवान् शबरीकी कुटियामें प्रवेश करते हैं। शबरी और रामका अथवा प्रेमी और प्रेमास्पद मधुर सम्मिलन हुआ। भगवान्‌ने कहा : "पगली कुछ खिलायेगी भी या खड़ी-खड़ी मेरा मुँह ताका करेगी ?" हर्षविह्वल शबरी उठी और बड़े प्रेमसे अपनी डलिया उठा लायी। फिर क्या था ? :

प्रेमिनका ऐसा प्रेम देख रघुनाथजी हाथ बढ़ाते हैं।
चक्खे हुए बेरोंको बेर-बेर खुश होकर भोग लगाते हैं॥
ला बेर बेर क्यों बेर करे, अमृतसे बढ़कर बेर हैं ये।
पक्के मीठे और ताकतवर अति सुखकर मीठे बेर हैं ये॥
हे लक्ष्मण तुमने खाये नहीं देख तो कितने कैसे मीठे हैं।
पातालसे लेकर स्वर्गतलक जो हैं सो इससे फीके हैं॥
तुमने भी बहुत खिलाये हैं पर उनमें यह आनन्द नहीं।
सीताका भी परसा भोजन है इतना मुझे पसंद नहीं॥

रामके घरमें सब सिद्धियाँ दासी हैं, गुरु वसिष्ठजी हैं, जिनके यहाँ कामधेनु है। महलमें त्रैलोक्येश्वरी किशोरी जानकीजी जैसी आज्ञाकारिणी पत्नी हैं। श्वशुर योगिराज विदेहके घरमें भी सिद्धियाँ सेवामें खड़ी रहती हैं। फिर भी घरपर, ससुरालमें या अन्यत्र जहाँ-जहाँ आपकी पहुनाई हुई, सर्वत्र आप यही कहा करते कि शबरीके बेरका स्वाद एवं वैसी भूख तथा वह मिठास कहीं नहीं मिली। प्रेमीके हाथ बिक जानेवाले श्रीरामके समान त्रैलोक्यमें न कोई हुआ, न है और न होगा।

●

नीति-वचनामृत

१.

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ।।

मरत मनस्वी नर भले करत न दैन्य-उदोत ।
कृश कृपानु ह्वै बुझत वरु शीतल कबहुँ न होत ।।

२.

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ।।

जाको मन संतोषयुत वाके सब धन-धाम ।
पनही पहिरे पुरुष हित बिछ्यो भूमिपर चाम ।।

३.

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ।।

पढे सुने जाने सकल साधे सगरे काम ।
जो पाछे करि कामना गहत भाव निष्काम ।।

सूक्ति-सुधा

कनकधारा-स्तव

३.

विश्वामरेन्द्रपदविभ्रमदानपक्ष-
मानन्दहेतुरधिकं मुरविद्विषोऽपि ।
ईषन्निषदतु मयि क्षणमीक्षणार्ध-
मिन्दीवरोदरसहोदरमिन्दिरायाः ।।

सकलसुरोंके इन्द्रपदके विलासदिव्य
देनेमें समर्थ जो दयासे यदि ढर-जायँ,
जिसको निहारके मुरारिके भी मानसमें
अतिशय आनंदका अम्बुधि लहर जाय।
इन्दीवर-उदर-सहोदरा-सी मोद राशि-
दायिनी जो होती जन-जन को जिधर जाय,
देवी इन्दिराके नयनोंकी वह आधी दृष्टि
पड़ मुझपर क्षणभरको ठहर जाय ।।

•

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज, वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित